सहजानंद शास्त्रमाला

चित्संस्तवन-प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

सहजानन्द शास्त्रमाला

चित्संस्तवन-प्रवचन

प्रवक्ता– अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु.

मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

सम्पादक-

सुमेरचंद जैन

१५ प्रेमपुरी मुजफ्फरनगर

प्रकाशक –

मंत्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए. रणजीतपुरी सदर मेरठ (उ.प्र.)

प्रति १०००)   सन् १९६९   (न्योछावर ५० पैसे

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'चित्संस्तवन-प्रवचन'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजीवर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्यश्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे |

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **कु. प्रतीक्षा जैन, गांधीनगर, इन्दौर** एवं प्रूफिंग में **श्रीमती प्रीति जैन, इंदौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णीमहाराज द्वारा रचित ''सहजानन्द''

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ रागवितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।

किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुख की खान ।

निज को निज पर को पर जान, फिर दुख का नहिं लेश निदान ॥३॥
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहूँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूँ अभिराम ॥५॥

अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँरूपी हूँ।।टेक।।स्वमैं सहजानन्द ,

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्ययं पूर्ण।हूँ सहज ज्ञानघन स्व ,
मैं दर्शन ,धाम सहज आनन्दहूँ सत्य० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्तापर में मेरा कुछ काम नहीं। ,
मैं दर्शन ,पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में।निज की निज में दुविधा ही क्या ,
मैं दर्शन ,निज अनुभव रस से सहज तृप्त० ,मैं सहजा०।।३।।

चित्संस्तवनम्

प्रभजमि शिवं चिदिदं सहजम्

शिवसाधनमूलमजं शिवदम्, निजकार्यसुकारणरूपमिदम् ।
भवकाननदाहविदाहहरम्, प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम् ॥१॥

भवसृष्टिकरं शिवसृष्टिहरम्, शिवसृष्टिकरं भवसृष्टिहरम् ।
गतसर्वविधानविकल्पनयम्, प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम् ॥२॥

शिवसृष्ट्यकरं भवसृष्ट्यहरं, भवसृष्ट्यकरं शिवसृष्ट्यहरम् ।
गतसर्वनिषेधविकल्पनयम् , प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम् ॥३॥

परिणामगतं परिणामहरम्, परिणामभवं परिणामयुतम् ।
उपपादविनाशविकल्परहम्, प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम् ॥४॥

स्वचतुष्टयमूलमभिन्नगुणम् , मतिदर्शनशक्ति सुशर्ममयम् ।
अचलं शिवशङ्करदृष्टिपथम्, प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम् ॥५॥

Table of Contents

चित्संस्तवनप्रवचन- .... - 2 -

प्रकाशकीय .... - 3 -

आत्मकीर्तन .... - 5 -

आत्म रमण .... - 6 -

चित्संस्तवनम् .... - 7 -

श्लोक 1 3

श्लोक 2 11

श्लोक 3 20

श्लोक 4 25

श्लोक 5 31

चित्संस्तवन-प्रवचन

प्रवक्ता-

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु. मनोहर जी वर्णी

'सहजानन्द' महाराज।

मंगलमय चित्स्वरूप का संस्तवन- यह चित्संस्तवन नाम का एक स्तवन है, जिसमें आत्मा के चित्स्वरूप का स्तवन किया गया है । इन सभी छंदों का अंतिम चरण है- 'प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम्'। इसके छंद का नाम है तोटक छन्द । इसके पुनरावर्त्य चरण में कहा गया है कि मैं इस शिवस्वरूप चैतन्य को सेवता हूं । किसी की सेवा करने का अर्थ क्या है ? उसका विकास होना, उसका प्रसाद होना, उसकी सफलता होना । मैं अपने आप में अन्त:प्रकाशमान चित्स्वरूप की सेवा करता हूं, अर्थात् जैसे चित्स्वरूप का विकास हो, प्रसाद हो, सम्पन्नता हो, वैसा आचरण करता हूं । सेवा वही कर सकता है जिसके द्वारा सेवा की जाती हो, सेव्य तत्त्व उसके सम्पूर्ण समक्ष रहता हो । जिसका वियोग न हो, जिसका संसर्ग हो उस ही की सेवा की जा सकती है । उस अपने चैतन्यमय प्रभु की सेवा तभी तो कर सकूंगा जब मेरे उपयोग में मेरे समक्ष वह चैतन्य स्वरूप रह रहा हो । वह समक्ष रह रहा है इस बात को इदं शब्द से जाहिर किया है । मैं इस चैतन्यस्वरूप को सेवता हूं । देखिये इदं शब्द का प्रयोग होता है सन्निधान में । तत् शब्द का प्रयोग होता है परोक्ष में।

चित्स्वरूप की शिवमयता-मैं इस चैतन्यस्वरूप को सेवता हूं जो कि शिवस्वरूप है । शिव का अर्थ है कल्याण, मंगल, सुख, शान्ति । जो भी परम अभीष्ट का अर्थ है वह शिव का अर्थ है । यह चैतन्यस्वरूप स्वयं शिवस्वरूप है । प्रयोगविधि से अपने आप की सम्हाल करके भेद विज्ञान से, तत्वज्ञान से इस चित्स्वरूप का निश्चय करके इस ओर जो ठहरता है वही जान पाता है कि यह आत्मा शिवस्वरूप है । जैसे- कहावत में कहते हैं कि अन्धे को क्या चाहिए? दो नयन । और, कहते हैं कि आम खाने से काम, या पेड़ गिनने से । इसी तरह अपने आपसे भी बात करिये । हे आत्मन् । तुम्हें क्या चाहिये तथा तुम्हें शान्त रहने से काम है या दुनिया के बखेड़ों से काम ? बखेड़ों से कुछ नफा मिलता हो तो चलो बखेड़ा करो । तुम्हें शान्ति से रहना है तो शान्ति का जो अन्त: उपाय है उसे सच्चाई के साथ जान तो लो । हम आप सबका एक ज्ञान ही सहारा है । हम शान्ति के पथ में बढ़ें इसके लिए आवश्यक है कि हम यथार्थ ज्ञान करें । सही बात जानने के अनन्तर इसे आकुलता नही रहती। व्यापारिक जीवन में भी आप जानते होंगे कि यदि सच्चाई की बात में, न्याय नीती की बात में कुछ हानी भी अपने को उठानी पड़ रही हो तो लोग उसकी भी परवाह न करके अपनी बात को महत्व देते हैं व उस होने वाली हानि को

प्रसन्नता से सह लेते हैं । फिर तो जिसको निश्चय से आत्मकल्याण की भावना हुई है वह पुरूष तो सत्य का आग्रह करने ही वाला है । वस्तुस्वरूप यथार्थ ज्ञान में आये फिर वहां आकुलता नहीं जगती ।

चित्स्वरूप की सहजता- यह आत्मस्वरूप, यह सहज सत्य स्वभावत: निराकुल है, सर्व विपदाओं से अतीत है । स्वयं है एक प्रतिभासमात्र । जो लदान लगा है, जो विकार आया है, जो बाह्य तत्त्व है वह तो मेरा स्वरूप ही नहीं । आया है, मेरा सहज स्वभाव नहीं । मैं तो केवल अपने स्वरूप की वार्ता में लग रहा हूं । मैं शिवस्वरूप हूं तथा सहज हूं । जब से मैं हूं तभी से जो साथ है वह सहज कहलाता है और इसी कारण सहज सुगम होता है । दुर्गम तो यह विकारभाव है जो कि मुश्किल से, बड़ी अधीनताओं से आया याने बड़े प्रोग्राम रचे तब आया । दुर्गम तो विकार है, स्वभाव तो सहज है । है वह सहज, पर जैसे कोई कह उठे उल्टी गंगा बह रही है याने हो तो रहा है नीचान किसी ओर और बह जाय ऊपर की ओर तो यों ही समझिये कि मोही पुरुषों को विकार तो सुगम लग रहे हैं और स्वभावदर्शन दुर्गम लग रहा है । अकेला पर से अशरण यह आत्मा आज मनुष्यभव में आया है, इसको जो समागम जन्म से ही मिला है तथा मध्य में या कभी मिला है उन समागमों को सत्य मानना,अपना वास्तविक संग मानना, वैभव मानना यह तो बड़ी भूल है । भूल-भूल में ही तो अनन्तकाल बिताया और भूल में ही यह दुर्लभ मनुष्यभव भी बीत जायगा। तब क्या हाल होगा? अपने सहजस्वरूप की सेवा कर लो। सेवा करना अर्थात् सहज स्वरूप को अधिकाधिक तकते रहना, यही मैं हूं ऐसी प्रतीती रखना, अन्य मैं नहीं हूं, मेरा यह स्वरूप ही मेरा है, अन्य कुछ मेरा नहीं । इस प्रतीती से नहीं चिगना।

चित्स्वरूप के परिचय की अवश्यकर्तव्यता- भैया ! अन्तस्तत्त्व की अपनी यह बात वास्तविक बात हो तो मान लो, न हो तो न मानो । मानकर भी उस पर चलो या न चलो मर्जी तुम्हारी, पर चीज यदि यथार्थ है, वास्तविक है तो माना क्यों नहीं जाता ? मान ही लिया जाना चाहिये। यदि जैन शासन का फायदा उठाना चाहते हों, ऐसे उत्तम श्रावक कुल से फायदा उठाना चाहते हों, ऐसी दृष्टि ज्ञान वाला मन मिला है, हिताहित का विवेक कर सकते हों, कर्तव्यपर चलने का साहस बना सकते हों तो इसका सदुपयोग कर लो, मान लो यह बात कि मेरा अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वरूप यही मात्र मैं हूँ इसके अतिरिक्त जो भी मेरेपरलदान है वह मैं नहीं । ऐसे अपने चित्स्वरूप को देखो और देखते रहो बस यही स्वरूप की सेवा है । कोई बड़ा आदमी जब नगर में आता है तो लोग उसे नजराना भेंट करते हैं बस हो गया सम्मान उसका । इतना ही मात्र उसका सम्मान है । तो अपने इस चैतन्य महाप्रभु का सम्मान यही है कि इसको हम नजर में लें, इसकी ओर दृष्टि लगाये रहें, इसे ही ज्ञान में बसाये रहें, इससे इस प्रभुका विकास होगा । यही प्रभु की सेवा है । सेवा करो तो बड़े की करो । कौन है बड़ा मेरे लिए, जिसके बाद फिर

कोई दूसरा बड़ा न हो, वह है मेरा विशुद्ध प्रतिभासस्वरूप । इस सहज शिवस्वरूप चेतन को मैं प्रकृष्ट रूप से भजता हूँ । अब इसका पहिला छंद कहते हैं-

श्लोक 1

शिवसाधनमूलमजं शिवदम् । निजकार्यसुकारणरूपमिदम् ।
भवकाननदाहविदाहहरम् । प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम् ॥१॥

तोटक छन्द की विशेषता- तोटक छन्द में प्रत्येक तीसरा वर्ण दीर्घ होता है, शेष वर्ण सब ह्रस्व होते हैं । १२ वर्ण १६ मात्रा और उसमें भी दो ह्रस्व के बाद एक दीर्घ आना ऐसी मात्राओं से और मात्राओं के क्रमों से जिसके प्रत्येक चरण बंधे हुए हों उस छन्द को तोटक छन्द कहते हैं अर्थात् जिसमें चार सगण हों उसे तोटक छन्द कहा गया है । अहा, तोटक छन्द ही यह संकेत कर रहा है कि तोड़ दो – क्या तोड़ दो ? जो अनादि की विडम्बना है, जो भवसाधन है उस विभाव की परम्परा को तोड़ दो । उसके तोड़ने का उपाय है यह कि अपने आप में बसे हुए चैतन्यस्वरूप को उपयोग के सामने लाकर या इसके सामने उपयोग को करके स्वरस का रस लो, स्वाद लो और ध्यान करो । मैं इस सहज शिवस्वरूप चैतन्य को प्रकृष्ट रूप से भजता हूं ।

शिवसाधनमूल की अन्तर्दृष्टि- यह चित्स्वतत्त्व शिवसाधन का मूल है, मोक्ष के जो साधन हैं उनका मूल है । मोक्ष के साधन हैं सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र याने विशुद्ध ज्ञान विकास । उसका यह मूल है । मोक्ष का साधन करो बजाय इसके यह कहना कि शिव का साधन करो, यह उसकी अपेक्षा से प्रबल अन्तरङ्ग दृष्टि के अन्तर्गत है । जो शिवस्वरूप है अविकार है उस स्वरूप का साधन करो उसकी सिद्धि करो, उसकी आराधना करो । आराधना का ही नाम राधा है और राधा जब नहीं मिलती है तो उसका नाम है अपराध । इसने अपराध किया, मायने इसने राधा का संग छोड़ दिया ।

जब उपयोग में अपना स्वरूप समाया रहता है तो उसे राधा कहते हैं। इस राधा के साथनिरन्तर रह रहे थे साँवलिया पार्श्वनाथ । 'जैसे कहते हैं'- 'राधेश्याम' राधा और श्याम निरन्तर साथ रहे' ऐसा लोग कहते हैं । पर अर्थ इसका था-अपने आपके स्वरूप की दृष्टि रखना उसका ही नाम है सिद्धि उस सिद्धि के साथ प्रभु श्याम पार्श्वदेव प्रसन्न (निर्मल) रहे । वह सिद्धि जब जीव के भाव में नहीं रहती है तो उसका नाम है अपराध । जब सहजभाव के साथ रहना होता है उपयोग का तब है वह शिवसाधन या शिवसिद्धि, सो यह तो है मंगलरूप और इसके विरुद्ध जो भाव है वह है अपराध । अपने आपको विकारस्वरूप निरखना तथा यही तो मैं हूं, जिसका अमुकलाल, अमुकप्रसाद, अमुकचन्द आदि नाम हैं, यही तो मैं हूं, मैं और अन्य क्या हूं ? मैं इस घर का मालिक हूं, स्वामी हूं, मैं इतने बच्चों वाला हूं, मैं ऐसी पोजीशन का हूं, इस प्रकार से अपने

आप की सेवा करना, आराधना करना यह तो है अपराध, और मैं शिवस्वरूप प्रतिभासमात्र अमूर्त अन्त: पदार्थ हूं, इस प्रकार की आराधना करना यह है शिवसाधन ।

चित्स्वरूप की शिवसाधनमूलता पर प्रकाश- इस शिवसाधन का मूल है यह चित्स्वरूप। सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ? इस चित्स्वरूप को आत्मारूप से प्रतीति में लेना सो सम्यग्दर्शन है । सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं ? इस अखण्ड चैतन्यस्वरूप की प्रतीति के साथ जो जानकारी होना है सो सम्यग्ज्ञान है । सम्यक्चरित्र किसे कहते हैं ? इस अविकार अखण्ड चित्स्वरूप में उपयोग निरन्तर बनाये रहना, इसका नाम है सम्यक्चरित्र । तो देखो शिव के साधन हैं सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र । और इनका मूल है, इनका आधार है यह चित्स्वरूप । ऐसे शिवसाधन के मूल चित्स्वरूप को मैं प्रकृष्टरूप से सेवता हूं । यह किसकी चर्चा चल रही है ? इस अन्तस्तत्त्व की, चित्स्वरूप की, यह शिवसाधनमूल है ।

जितने हमारे कल्याणरूप साधन हैं वे साधन तब साधन कहलाते हैं जब इस चित्स्वरूप को आश्रय में लिये हुए हों । इस कारण यह सहज परमात्मतत्त्व शिवसाधनमूल है। सुबह कहां गये थे ? प्रभु की पूजा करने । पूजा में क्या किया था ? किया था यत्न इस चित्स्वरूप का ही आलम्बन लेने का । दशलक्षण पूजा भी की । क्या किया ? वहां नाना भाव भरते हुए इस चित्स्वरूप की दृष्टि की, तीर्थंकर की पूजा की, गुरु की पूजा की, देव की पूजा की, सिद्ध की पूजा की । क्या किया वहां ? इस चित्स्वरूप का आश्रय लेने का यत्न किया । और जिसको मूल विदित नहीं है कि क्या करना था, हमने क्या किया, सो वे उत्तर दें । उपासक के उत्तर ने यदि पूजा में ध्यान में सब जगह इस चित्स्वभाव का सम्बन्ध बनाया, इसमें डोर लगायी, उसको ही मूल माना गया तो वह साधन है धर्मसाधन, शिवसाधन । ऐसे शिवसाधन-मूल इस सहज शिवस्वरूप चित् को मैं सेवता हूं ।

यह सहज चित्स्वरूप अज है । न जायते इति अजं । जो उत्पन्न न हो उसे अज कहते हैं । यह किसी कारण से किन्हीं हेतुओं से, किसी काल में उत्पन्न नहीं हुआ है, यह अपने आपके स्वरूप की बात कही जा रही है । मैं वास्तव में हूं, उसकी चर्चा की जा रही है । मैं अज हूं । मैं इस दिन पैदा हुआ, मैं इस माँ बाप से उत्पन्न हुआ, ऐसी जिनको श्रद्धा है उन्होंने अपना अनादि अनन्त स्वरूप नहीं समझा । मैं अज हूं, किसी से उत्पन्न नहीं हुआ । शाश्वत हूँ । परमार्थभूत चैतन्यसत् हूँ । अज नाम ब्रह्मा का भी है । जो उत्पन्न न हो उसे अज कहते हैं । हमारा ब्रह्मा कौन है । यही अज, अनादि काल से अपनी पर्यायों में रहता हुआ, पर्यायों में तमतमाता हुआ जो चला आ रहा है । यह चित्स्वरूप अज है ।

अन्तस्तत्त्वचित्स्वरूप की उपासना की प्रयोग बिना असम्भवता- शिवसाधना का मूल यह अज चैतन्यस्वरूप समस्त शिव का प्रदान करने वाला है और कल्याण है, मेरे लिए मंगल है, जिसमें सदा के लिए शाश्वत हित ही रहता है ऐसे परमार्थ परमपद को प्रदान करने वाला यह चित्स्वरूप है, यह अपनी सुख शान्ति का अपने विकास का सत्य वैज्ञानिक रूप है। प्रयोग करके देखो- अंदाज करो, जहाँ गलती हो वहाँ निरखो । जैसे वैज्ञानिक के अविष्कार प्रयोग साध्य हैं और वैज्ञानिक अविष्कार ही क्या, व्यवहार की बाते भी प्रयोग साध्य हैं । बात बात के कहने सुनने से होने वाले ज्ञान में और उसको प्रयोग से अभ्यास में लाये हुए ज्ञान में अन्तर है । एक स्कूल में मास्टरजी लड़कों को जल में तैरने की कला सिखा रहे थे। पुस्तकें भी बहुत सी थीं । ६ महीने का कोर्स था । ६ महीने तक मास्टर ने लड़कों को खूब जल में तैरने की कला पढ़ा दी, देखो इस तरह से नि:शंक होकर जल में कूद जाना चाहिये, इस तरह से हाथ चलाना चाहिये, इस तरह से पैर फटकना चाहिये आदि । जब ६ माह पूरे हो गए तो मास्टर ने उन लड़कों की परिक्षा लेने के लिए कहा । लड़कों को एक नहर के किनारे खड़ाकर दिया और कहा- देखो हम १, २, ३ कहेंगे, जब हम ३ कहें तो तुम सभी लोग इस नहर में कूदजाना और अपने तैरने की कला दिखाना । जब मास्टर ने कहा- १, २, ३ तो सभी लड़के जल में कूद गए और वे सबके सब डूबने लगे । अब क्या हो ? मास्टर भी बुद्धू ही थे । वह तैरना न जानते थे, केवल मुख से भाषण (speech) करने वाले थे । आखिर नहर में जो नाविक (मल्लाह) लोग थे उन्होंने उन सभी लड़कों को जल्दी जल्दी पकड़कर बाहर निकाल लिया । उन मल्लाहों ने मास्टर को दसों गालियां दीं । मास्टर ने कहा-भाई हमने तो इन सभी लड़कों को तैरने की कला बहुत अच्छे ढंग से पढ़ाया, (सिखाया) पर ये फेल हो गये तो हम क्या करें ? तो जैसे ये व्यवहारिक कार्य भी प्रयोग साध्य हैं इसी प्रकार आत्मविकास के मार्ग में चलने की बात भी प्रयोगसाध्य है । अत: स्वाभिमुखसंवेदन के यत्न में स्वमें ज्ञान द्वारा वैसी ही दृष्टि बनायें, वैसे ही पर के विकल्पों से हटकर अपने आपके स्वरूप को उपयोग में लगायें, प्रयोग करें, प्रयोग से प्रभुता के दर्शन होंगे, आनन्द की प्राप्ति होगी, दृढ़ निर्णय होगा । करने योग्य काम तो एक मात्र यही है, शेष सब असार काम हैं ।

अन्तस्तत्त्व के दर्शन की अन्त:उपयोग के प्रयोग के द्वारा साध्यता- भैया ! जब व्यवहार की बातें भी प्रयोग बिना सही नहीं उतरतीं, की नहीं जा सकतीं तो यह अन्तस्तत्त्व का ज्ञान यों ही कैसे निश्चय में आयगा ? खूब प्रयोग करके देख लो । न तालाब में तैरने की बात सही, रोज रोज घर में रोटियां बनती हैं, दसों-बीसों वर्षों से आप रोज रोज रोटियां बनती हुई देखते हैं, पर आपसे कहा जाय कि आज जरा आप रोटियां बना दें तो आप बना न पायेंगे । अच्छा यदि कुछ रोटियां बनाने की विधि जानने में कसर हो तो और भी कहीं स्पीच से सुन लो । घंटे भर पहिले

से आटे को गूंथकर रखो, फिर रोटियां बनाते समय दुबारा पानी डालकर उसे गीलाकर ऐसा गूंथो कि यदि वह आटा खींचा जाय तो आधारवाली थाली भी उठ आये। उस गुथे हुए आटे की सुडौल लोई बनाकर बेलने से, इस तरह बेलना चाहिये कि बेलना ही उसे सरकाकर गोल गोल बना दे । फिर उसे तवे पर डाल दो । पहिला पत बहुत कम सिकने दो, उसे पलटकर दूसरा पर्त उससे कुछ जरा देर तक सिकने दो । जब उसमें कुछ कड़ापन आ जाय तो आग पर धरकर चीमटे से पकड़ कर घुमाते रहो । जब वह फूलने लगे, और बीच में कहीं छिद्र हो जाय तो उसका मुख चीमटे से बन्द कर दो । यों रोटी सिककर तैयार हो जायगी, इस तरह स्पीच भी सुन लो, और रोटियां बनाते हुए देख भी लो, पर हम कहें कि जरा रोटियां बनाकर आप (पुरुष लोग) दिखा दो तो आप दिखा न सकेंगे । अरे वह तो प्रयोगसाध्य बात है । जब १५-२० दिन आप रोटियां बनाना प्रयोग विधि से सीखेंगे तब आप रोटियां बना पायेंगे । क्यों जी, यह बात तो बिल्कुल सही जचती ना । तो जब व्यवहार की बात भी केवल बातों से नहीं मिलती प्रयोगसाध्य है, तब यह अन्तस्तत्त्व की बात, इसका आलम्बन लेने से किस प्रकार विकास होता है, कैसे आनन्द जगता है, कैसा सरल सारभूत तत्त्व है, वह ध्यान साधना के प्रयोग बिना नहीं जाना जा सकता है । ऐसे शिवसाधनमूल, अज व शिव को प्रदान करने वाले इस सहज चैतन्यस्वरूप को मैं भजता हूं ।

निजकार्य- यह मैं, केवल अपने आपके ही सत्त्व के कारण, बिना किसी दूसरे के सम्बन्ध के, स्वयं जिस प्रकार रहने वाला हूं, यह मैं अपने उत्कृष्ट कार्य का उत्तम कारण हूं। मेरा कार्य क्या है ? मेरा उत्तम कार्य है वह जो केवल मेरे से बन जाय । यही मेरा कार्य है, मेरा कार्य किसी दूसरे उपादान में तो होता ही नहीं । दो द्रव्य मिलकर मेरे काम को तो करते ही नहीं । जैसे कि चूना और हल्दी ये दोनों मिलकर लाल रंग बना देते हैं । दोनों ही बन गए लाल, इस तरह से और कोई दूसरी चीज मिलकर मेरा कुछ भी कार्य बना दे विकृत कार्य ही सही, ऐसा नियम नहीं होता । मैं ही एक अपना उपादान यह ही मैं केवल अपने को विकृत बनाया करता हूं । तो उपादानतया तो मेरे किसी भी काम का कोई अन्य कारण है ही नहीं । हां विकाररूप कार्य के लिये निमित्त कारण होता है । कर्म रूप निमित्तनैमित्तिक विकार के, औपाधिक भाव के कारण बनते हैं । सो वहां भी जो निमित्त के सम्बन्ध से बने, वे यद्यपि होते हैं मुझमें ही, पर वे मेरे कार्य नहीं हैं । मेरा कार्य तो वह है जो अपने आप स्वयं मुझमें हो, अब निर्णय करते जाइये । चिन्तन करते जाइये क्रोध जगा तो यह मेरा कार्य नहीं, यह क्रोध प्रकृति के उदय से बाह्य पदार्थों का आश्रय करके जगा, मेरा सहज कार्य वह है जो एक मेरे से ही बनता है । मान, माया, लोभ, विकल्प, विचार तरंग ये भी कुछ मेरे कार्य नहीं है । मेरा कार्य है मेरे गुण का परिपूर्ण विकास जिसे कहते अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द रूप विकास । सो ही

मेरा कार्य है । हम भगवान की भक्ति में क्यों अधिक रुचि करते हैं ? समय लगाते, उपयोग लगाते, हम वहाँ यह देखना चाह रहे हैं यह तक रहे हैं कि मेरा कार्य क्या होता है । सो उनके स्वरूप से हमें पता पड़ जायगा । अपने सहज कार्य की जिज्ञासा हुई है इस उपासक को, सो तक रहा है, उन्हें निरख रहा है, बाट जोह रहा है ऐसा ही मेरा कार्य होगा, उस निजकार्य का यह मैं चित्स्वरूप सुकारण हूं ।

अन्तस्तत्त्व की निजकार्यसुकारणरूपता- यह मैं निज कार्य का कैसा कारण हूं कि जिसमें कोई छेदन भेदन नहीं करना पड़ रहा, जिसमें से कुछ चीज अलग नहीं करनी पड़ रही, कोई चीज बाहर से नहीं लादनी पड़ रही । हां जो कुछ इस प्रकार मैल था, औपाधिक भाव था, पर तत्त्व था वही दूर किया जा रहा है । अन्य कुछ उस कार्य को बनाने के लिए कोई दौड़ा दौड़ी नहीं की जा रही है । जैसे कि किसी ने कारीगर से कहा कि देखो इस पाषाण में इस प्रकार की बाहुबली स्वामी की मूर्ति बनानी है तो वह कारीगर सबसे पहिले क्या करता है ? सबसे पहिले उस मूर्ति को उस पाषाण में अपने ज्ञान से स्थापित कर देगा । अभी पत्थर वैसा का वैसा ही है, लेकिन कारीगर को उस पत्थर में वह मूर्ति ज्ञानबल से दिख गई और तभी वह कारीगर सम्हाल करके पत्थर के टुकड़ों को निकाल रहा है । अटपट कहीं बीच में ही जोर से ठोकर मार दे ऐसा तो वह कारीगर नहीं कर रहा । उसे तो उस पाषाण में दिख गया कि यह है वह बाहुबली की मूर्ति । उसको बचा बचाकर अगल बगल के पत्थरों को कारीगर हटाता है। हटाता क्या ? पहिले स्थूल आवरण को हटाया फिर उसमें सुक्ष्म जो आवरण हैं उन्हें अत्यन्त सावधानी से हटाया, पर जो मूर्ति निकली, प्रकट हुई उसमें से न कोई अंश हटाया न कोई अंश बाहर से लाकर लगाया । वह तो ज्यों का त्यों ही है । जो था केवल उसके जो आवरक पत्थर थे उनको हटाया । उस बाहुबली मूर्ति का सुकारण हुआ वही, जो कि प्रकट हुआ है, इसी प्रकार हमारा जो कार्य अनन्तज्ञान, दर्शन, शक्ति, आनन्द है जैसे कि हम आप अपने पुरखों में खूब टकटकी लगाकर देखते हैं । प्रभु कौन है ? हमारे ही पुरखों में, हमारे ही पूर्व वंशों में वे महापुरूष हुए, निर्वाण को प्राप्त हुए । बहुत समय गुजर गया, गुजरने दो, हुए हमारी ही कुल परम्परा में पहिले । तो अपने पुरखों के स्वरूप में टकटकी लगाकर अपने भावी कार्य को निरखा उस उपासक ने कि मुझे तो यह बनना है । प्रभुस्वरूपदर्शन से अपना परिचय किया और अपने आप में निर्णय किया, यह कार्य मुझमें स्वभाव से विद्यमान है । अन्त: अब करता क्या है यह सम्यग्दृष्टि पुरुष, जिसने कि अपने आप में परमात्मस्वरूप का दर्शन किया है । करता यह है कि इसके आवरण करने वाले जो परिणाम हैं, विषय कषाय के जो भाव हैं, परदृष्टि है, जो विकल्प हैं उनको तोड़ता है अलग करता है । उनके अलग करने की उस पद्धति से मूर्ति के आवरण को टांकि से अलग किये जाने की तरह त्रिविध है । पहिले मोटे रूप से हटाने का काम, फिर और

सम्हालकर, फिर अत्यन्त सम्हालकर, ऐसे तीन करण परिणामों से यह जीव विषय कषाय के आवरणों को हटाता है । वे आवरण पूरे हट जायें तभी यहां यह निजकार्य प्रकट होता है । तो मेरे अनन्तचतुष्टय रूप कार्य में सुकारण है यह चैतन्यस्वरूप । अपने कार्य का यह चैतन्यस्वरूप सुकारण है ।

अपना कार्यत्व और कारणत्व-भैया ! चर्चा चल रही है । किसकी ? अपने आप की । पर वह अपने आप क्या है ? यह इस तरह निरखिये कि जैसे कोई दूध में घी को निरखता है । दूध में घी आँखों से नहीं दिखता, हाथ से पकड़कर नहीं निरखता, किन्तु अपने ज्ञानबल से दूध में घी का परीक्षण करता है और कह उठता है कि इसमें तो इतना घी है । जैसे कोई स्वर्णमिट्टी में स्वर्ण को निरखता है, जिससे स्वर्ण चांदी निकलती है वह मिट्टी जैसी मिट्टी है, उसे ऊपर से कोई साधारण पुरुष नहीं मान सकता कि इसमें सोना है चांदी है, तांबा है, लोहा है । ये सब धातुएं मिट्टी से तैयार की जाती हैं, उस योग्य मिट्टी होती है । उसे भट्टियों में गर्म करके, उनके असार भाग दूर करके, फिर दूसरी भट्टी में गर्म करके फिर असार भाग निकाल करके, इस तरह तपाते तपाते मानो १० मन मिट्टी में एक तोला स्वर्ण निकल सका, कुछ चांदी निकल सकी, तो उस मिट्टी में स्वर्ण कहां है ? पूरी मिट्टी है पर विधि से उससे स्वर्ण निकाला जाता है, ऐसे ही इस ज्ञानी पुरूष को अपने आप के अन्तर में वह परमात्मस्वरूप नजर आता है, नजर किया गया ज्ञानबल से । इसके प्रयोग के लिए उपाय यह करना है कि अपने को केवल समझा जाय । जितना अपने को केवल समझा जा सकेगा उतना ही हम इस अन्तस्तत्त्व के निकट पहुचेंगे । यह है अपना अनन्त चतुष्टयरूप कार्य का कारण । केवल अपने आपको समझने के लिए केवल ही तो निरखना है । शरीर से निराला, बाह्य समस्त संयोगों से निराला जो यह मैं, जो इकला आया, इकला जाऊंगा, एसा निज प्रदेशमात्र और फिर उसमें भी जो विकल्प विचार विकार हो रहे हैं उनसे भी निराला निरखना है ।

निजकार्यविधान- ये विकार तो दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह हो गए, पर वह प्रतिबिम्ब दर्पण का काम नहीं, तत्त्व नहीं, स्वभाव नहीं, दर्पण तो स्वच्छतामात्र है, यों समस्त द्वन्द्वों को अलग करता हुआ केवल अपने आपको निरखे तो उस केवल की निरख से परमात्मतत्त्व के दर्शन होते हैं । दर्शन भी किस तरह ? अनुभवरूपसे, आँखों से नहीं, किन्तु अन्त: ज्ञान द्वारा सहज ज्ञानस्वभाव ज्ञान में आ गया, यही अनुभव का रूप है । ज्ञान में जानने की सामर्थ्य तो है ही । भींट, ईंट पत्थर चौकी आदिक को यह ज्ञान जान रहा है । तो जैसे इनको जान रहा है ऐसे ही हम अपने आपके स्वरूप को जानना चाहें तो क्या जान न सकेंगे ? अन्तर इतना है कि बाहरी पदार्थों के जानने का साधन तो हैं स्थूलरूप से हमारी बाह्यइन्द्रियां, किन्तु अपने आपके

ज्ञानस्वरूप को जानने का साधन है स्वसंवेदन । भीतर पहिले मन से कार्य हुआ, और, जब अखण्ड निर्विकल्प स्वरूप के निकट मन पहुंचने को होता है तो वहाँ मन भी अपना कार्य छोड़कर आत्मा को आत्मा के लिए, स्वविश्राम के लिए सौंप देता है । जैसे किसी राजदरबार में राजा से मिलने के लिए कोई पुरुष पहुंचा तो वहां बैठा हुआ पहरेदार उस आगंतुक पुरुष को वहां तक पहुंचा देता है जहां से राजा के दर्शन होते हैं और बता देता है कि देखो वह हैं महाराज । अब पहरेदार वहाँ से निवृत्त हो गया । वह आगंतुक पुरु अब राजा के पास स्वयं जाये और जाकर करे दर्शन वार्ता आदि, तो ऐसे ही इस हमारे मानसिक ज्ञानने यह उपकार किया कि यह मनोरथ इस उपयोग को उस सहज परमात्मतत्त्व के निकट ले गया जहां से दर्शन सुगमता से हो सकते हैं, अनुभव बन सकता है । उसके निकट तक पहुंचाकर उपयोग और स्वभाव दोनों को विश्राम के लिए छोड़ दिया । यह मन निवृत्त हो गया और अब यह उपयोग स्वसम्वेदन से अपने सहज परमात्मतत्त्व का दर्शन अनुभवन करता रहता है । यों यह चित्स्वरूप अपने कार्य का उत्तम कारण है ।

चित्स्वरूप की भवकाननदाहविदाहहरता- यह चित्स्वरूप संसार रूपी जंगल में लगी हुई आग की ज्वलन को हरने वाला है । जैसे किसी जंगल में आग लग जाय तो उस आग को बुझाने का उपाय क्या है ? कुवें से बाल्टी में पानी भर भरकर उस आग को नहीं बुझाया जा सकता । उसका सहज उपाय यह बन सकेगा कि बहुत से जलभरे मेघ आ जायें, आयें और एकदम बरष जायें तो वह जंगल की आग शान्त हो सकती है, इसी प्रकार हमारे भव कानन की दाह बहुत तीव्र हो रही है । जन्ममरण के चक्र में पड़े हुए, विषय कषायों की दाह में पड़े हुए हम कैसा जल रहे हैं । हमारी इस जलन को मिटाने के लिए कौन समर्थ है ? ये दुनिया के लोग कुछ जरा प्रीति की बात कह कर हमारी इस दाह ज्वलन को शान्त कर देंगे क्या ? नहीं शान्त कर सकते । कभी कभी इतनी विकट अग्नि हो जाती है कि छोटा मोटा पानी भी उस अग्नि की ज्वाला को बढ़ाने में कारण बन जाता है । तो ऐसा कौन सा उपाय है कि संसार के जन्म मरण, संयोग वियोग, विषय कषाय आदि की जो जो ज्वलायें उठ रही हैं उनको मेट सके ? क्या कहीं कोई उपाय संसार में है ऐसा ? कोई नहीं । यदि अपने आप में उसका सहज उपाय बने तो वह उपाय काम दे सकेगा । यह रागरूपी आग इस संसारवन को, जीवलोक को जला रहा है । ज्वलन को बुझाने की सामर्थ्य है ज्ञान में । ज्ञानघन का ज्ञानरूप वर्षण हो तो यह राग आग, यह भववन की दाह मिट सकती है । क्या करना है ? हम आपको यह प्रयत्न करना है-हम अपने ज्ञान से इस ही ज्ञान के स्वरूप को समझने का यत्न करें । जानने वाला यह स्वयं है कैसा ? ज्ञान का स्वरूप क्या है ? जानना क्या ? ऐसे ज्ञानपरिणमन को जानकर फिर ज्ञानस्वभाव को जानने में जब लगें तब यह स्थिति बनती है। जानने वाला है ज्ञान, जाना जा रहा है ज्ञान, और

जानने का साधन भी है ज्ञान । यों यह ज्ञानस्वभाव, यह सहज परमात्मतत्त्व निजकार्य का सुकारण है, और संसार को, राग की आग को शान्त करने के लिए सहज घन ज्ञानजल है ।

हितयोग होने पर भी हितदृष्टि न होने का खेद -देख लिजिये अपना मालिक, अपना रक्षक, अपना सर्वस्व, समस्त दु:खों का हरने वाला, समस्त समृद्धियों का देने वाला प्रभु अपने आप में उपस्थित है, वह अनादि अनन्त अन्त:प्रकाशमान है, लेकिन उसका शरण न गहें, उसमें कोई भक्ति न करे, उस ओर अपना उपयोग न मोड़ें तो यह स्वयं की भूल है । परंतु, कल्याण का अवसर तो घना मिला है, ऐसा विशिष्ट मनुष्यभव पाया है, ज्ञान प्राप्त किया है अब इस ज्ञान को यदि रहे सहे थोड़े विषय कषायों के काम में ही उपयुक्त कर दिया जाय तब कहना होगा कि जैसे कोई पुरुष चंदन की लकड़ी का प्रयोग बर्तन माजने के लिए राख बनाने में करे, उस जैसी मूढ़ता है । यह मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, उत्तम जिनवाणी का श्रवण, तत्त्वचिन्तन की योग्यता आदि सब कुछ दुर्लभ चीजें पायीं, किन्तु बाह्य धन वैभव की तृष्णा में अपने एक इस सहज सुगम कार्य को करना भूल गए ।

त्रिवर्गसाधनका कर्तव्य निभाते हुए उपासकों का आत्महित में मूल कर्तव्य -गृहस्थजनों! इस धन वैभव के अर्जन में तो आप अपना एक ही यह निर्णय बनायें कि गृहस्थ को त्रिवर्ग का साधन करना बताया है कि पुण्यकार्य करें, कुछ धन कमायें और परिजन के पालन पोषण का काम करें तो कर्तव्य हो गया यह कि समय पर दुकान पर ऑफिस में या जो जो भी जिस ढंग का कार्य हो समय पर पुरुषार्थ करें, कुछ वहां यत्न करें और जो आता हो आये । न यह विकल्प कि कम कमाते, न यह विकल्प कि ज्यादह कमाते । या यों कहो कि कमाना हमारे वश का नहीं । जैसा उदय में है, जैसा योग है उसके अनुसार तो कमाई होती ही है । सो अपना एक निर्णय बना लें कि हमें तो बहुत ही सात्त्विक वृत्ति से रहना है । चाहे कितनी ही सम्पदा आये, पर हमारा खर्च, हमारा रहन सहन तो इस ही सात्त्विक ढंग से रहेगा । आय तो जो भी न्याय नीती से होती है उसमें विभाजन कर लें कि इतना तो हमारे गुजारे के लिए है, इतना परोपकार के लिए है, इतना हमारे मुख्य कार्यों के लिए है, बस आपका कर्तव्य तो निभ गया । इसमें अधिक विकल्प क्यों ? अपना एक ऐसासा निर्णय होना चाहिए कि अपने कल्याण के लिए हमें करना क्या है । अपने आप में अन्त:प्रकाशमान इस सहज चैतन्यस्वरूप का बार बार अवलोकन करना है । कुछ विपत्ति आये तो झट इस ही स्वरूप के निकट पहुंचना, यही एकमात्र कार्य है जीवन में । इसके अवलम्बन से इस पद्धति से हम निकट भविष्य में संसार के समस्त संकटों से छुटकारा पा सकते हैं । सो यह मैं इस शिवस्वरूप सहज चैतन्यस्वरूप को प्रकृष्टरूप से सेवता हूं, भजता हूं, उपासना करता हूं, ऐसे संकल्प के साथ यहां लगना इसमें ही भलाई है ।

श्लोक 2

भवसृष्टिकरं शिवसृष्टिहरं, शिवसृष्टिकरं भवसृष्टिहरं ।
गतसर्वविधानविकल्पनयम्, प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम् ॥२॥

भवसृष्टि में अन्त:कारण- मैं इस कल्याणमय सहजचैतन्य स्वरूप को सेवता हूं, भजता हूँ जो भवसृष्टि का करने वाला है और शिवसृष्टि का हरने वाला है और फिर कभी शिवसृष्टि का करने वाला है और भवसृष्टि का हरने वाला है । जितना जो कुछ इसका विकास हो रहा है वह है क्या ? इसी चैतन्यमात्र अन्तस्तत्व का व्यक्तरूप है । जैसे कि दर्पण में प्रतिबिम्ब होता है तो वह भी दर्पण का व्यक्तरूप है और जब दर्पण में प्रतिबिम्ब स्वरूप नहीं रहता है, केवल स्वच्छता रहती है वह भी दर्पण का व्यक्तरूप है । स्वच्छता में तो दर्पण के स्वभाव का सुगमतया ज्ञान होता है और प्रतिबिम्बरूप परिणमन के समय दर्पण में स्वच्छता का सुगम ज्ञान तो नहीं हो पाता, किन्तु उस स्वच्छता के प्रसाद से ही वह प्रतिबिम्ब बन सका है । इसका अवश्य निर्णय है, कहीं भींट में, दरी में प्रतिबिम्ब तो नहीं बन बैठा । प्रतिबिम्ब बन बैठने की योग्यता विकास भी वहीं है जहां स्वच्छता है । तो यह आत्मतत्त्व अनादिकाल से है, और इसका व्यक्तरूप उन्हीं संसार की मलिन पर्यायों में चल रहा है इसलिए कह सकते हैं कि मेरा भी यह चित्स्वरूप तत्त्व इन विभाव विकार आवरणों के सन्निधान में भव की सृष्टि का करने वाला बन रहा है ।

विकृत अवस्था में प्रभुता का चमत्कार - चित्स्वरूप में प्रभुता है ना, सो बिगाड़ेगा यह प्रभु तो इसके बिगड़ने का भी चमत्कार देखियेगा, सुधारेगा तो सुधरने का भी चमत्कार देखियेगा, भला कोई वैज्ञानिक यह कर सकता है जैसे कि पेड़ पौधे, पशु पक्षी-मनुष्य आदिक प्राणी है । कैसा तो उनका देह है, कैसी उनमें चेतना है, कैसी समझ है, कैसे यह शरीर छोटा, बड़ा, जीर्ण शीर्ण आदि होता । इन सब बातों को कोई वैज्ञानिक कर सकेगा क्या ? यह तो प्रभु के बिगड़ने का चमत्कार है कि प्रभु रूष गया, बिगड़ गया, विकृत हो गया उस समय का यह विलास है जो संसार में यह जीवलोक बन रहा है यह सृष्टि अनादि परम्परा से चली आ रही है । और जब भवसृष्टि की बात रहती है तब शिवसृष्टि नहीं चल रही है, मुक्तिमार्ग नहीं चल रहा है, शुद्ध सम्यक्त्व ज्ञान चरित्र का विकास नहीं चल रहा है । इसको हरने वाला कौन हो गया ? उपादानतया यह ही तो मैं हूं जो शिवसृष्टि से दूर हूं, जो भवसृष्टि में लग रहा हूं । प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व के ही कारण चूंकि वह है अतएव उसमें एसी शक्ति पड़ी हुई है कि वह नवीन अवस्था बनाये, पुरानी अवस्था विलीन करे और वह एक ध्रुव रहे । इस रहस्य को न जानकर अनेक दार्शनिक इसी उलझन में बहुत काल तक रहे, इस समस्या को भी न सुलझा सके और सुलझाया भी तो अनेक विरुद्ध कल्पनायें करके । अरे यह उत्पादव्ययध्रुवत्व शक्ति उस पदार्थ में

स्वयं पड़ी हुई है, जो भी है कण कण अणु-अणु, मूर्त अमूर्त, चेतन अचेतन आदि उसमें यह शक्ति स्वयं पड़ी हुई है । प्रत्येक पदार्थ त्रिशक्तिमय है ।

पदार्थ की सहजकला के अपरिचय के कारण भवसृष्टि के कारण में अवमान्यता -जब पदार्थ की इस सहज कला को न पहचान सके तब प्रश्न होने लगे कि इस संसार को किसने बनाया । किसने बनाया इसका यदि कोई उत्तर दे तो संगत नहीं बैठता । कहाँ रहकर बनाया? किस चीज से बनाया ? किसलिए बनाया ? बनाकर उसने फायदा क्या लूटा ? साधारण प्रश्न ऐसा उठता है कि जिसका निर्दोष उत्तर नहीं होता, जो कि एक साधारण प्रश्न है । इस जगत में रहकर बनाया कि जगत से बाहर रहकर बनाया ? कुछ भी कहा जायगा वहां ही समाधान नहीं मिलता । किसलिए बनाया, बनाकर क्यों गलती कराता ? अरे कुछ न होता, कुछ न बनता तो क्या बिगड़ता था बनाने वाले का ? ये सब दु:खी हो रहे हैं, जन्म मरण में लग रहे हैं, अब बनाने वाला भी दया नहीं करता, लोगों को दु:खी कर रहा, परेशान कर रहा, उन जीवों के दु:खों को दूर करने की अब करुणा भी उसे नहीं जगती । जब समाधान योग्य समस्या नहीं बन पाती है तो चूंकि यह भक्तिप्रधान, श्रद्धाप्रधान, धर्मप्रधान देश है, तब एक भगवान के नाम पर उन सब समस्याओं को दोषों के समाधान के रूप में रख दिया ताकि लोग श्रद्धा के कारण उफ न कर सकेंगे और फिर अपने आप उपाय निकालेंगे अरे यह सब तो ईश्वर की लीला है, कहते हैं कि ज्यादह बातें मत करो, उसमें ज्यादह जीभ न हिलानी चाहिए। उस ईश्वर की लीला अपरम्पार है, उसे कोई जान नहीं सकता ।

निमित्तनैमित्तिक प्रसंग होने पर भी परिणमन का अन्त एकमात्र स्वयं कारण - भैया ! जरा दृष्टि तो दो अणु-अणु की, कण-कण की परख करो । सामने दिखते तो हैं पदार्थों के परिणमन कि प्रति समय बनते हैं प्रत्येक पदार्थ, अनन्त पदार्थ । प्रति समय अनन्त पदार्थों के इस बनने को भी कौन कर रहा है ? पदार्थों का यह सब स्वयं निजी स्वरूप है कि वे हैं और स्वयं बनते बिगड़ते और बने रहते हैं । साथ ही यह भी निरखते जाइये कि जितने विकाररूप परिणमन हैं वे सब विकाररूप परिणमनेवाले में स्वयं अपने आप अकेला ही अकेला याने निर्निमित्त स्थिति में रहने से हुआ हो सो बात नहीं । परिणमन है विकाररूप परिणमनेवालों में अकेले में ही, परन्तु निमित्त सन्निधान, आश्रय, आलम्बन प्राप्त होने पर ये विकार होते हैं । सब जगह निमित्त भरे हैं, आश्रय पड़े हैं, और द्रव्य को किसी को कुछ हट नहीं है कि मैं इसके बाद ऐसा ही परिणमूं । सहज जैसा निमित्त योग्य सन्निधान मिले तत्प्रायोग्य उपादान में सहज, वैसा ही विकार परिणमन होता है । इतने पर भी परख कर लिजिये कि परिणमनेवाले की कला से ही वह परिणमन हुआ है । उस ही में ऐसी कला है कि वह कैसे निमित्त सन्निधान को पाकर किस रूप

परिणम जाय । सब उसकी योग्यता में बात पड़ी हुई है । यह परिणमने वाले द्रव्य का स्वभाव है कि वह किस समय किस सन्निधान में किस रूप परिणम सके । पदार्थ में ये सब प्रकार की कलायें और योग्यतायें हैं । संसारी जीवों में जो कुछ भी सुख, दु:ख, शान्ति, अशान्ति, अज्ञान आदिक जो जो बातें कुछ कुछ बन रही हैं उन सब परिस्थितियों में निमित्त हैं कर्मों के उदय । ये बाह्य पदार्थ, ये समागम जो दृष्टि में आ रहे हैं ये सब निमित्त नहीं हैं, ये सब आश्रयभूत हैं । मेरे सुख हो, दु:ख हो, कषाय जगे, अभिलाषा जगे, जो भी विकार बने उस विकार का निमित्त है कर्मविपाक, न कि आस पास पड़े हुए समागम । जब ये कर्मविपाक होते हैं उस समय ये सामने या कल्पना में पाये हुए समागत वस्तुओं का आलम्बन लेकर अपने कषाय विकारभाव को यह जीव रचता है ।

सकल वर्णनों में ज्ञानी द्वारा अन्तस्तत्व का ग्रहण - चिन्तन, निर्णय विचार, परिचय दो दृष्टियों से होता है- उपादानदृष्टी से और निमित्तदृष्टि से, किन्तु जिनको अपने अंतस्तत्व की रुचि जगी है उन्होंने स्पष्ट ज्ञान पाया है और वह निमित्तदृष्टि के वर्णन में भी ग्रहण करता है आत्मा के शुद्धभाव के आश्रय की बात, और उपादानदृष्टि के वर्णन में भी ग्रहण करता है अन्तस्तत्व के आलम्बन की बात । जैसे जिस किसी पुरुष को किसी कारण शोक हुआ है तो वह दुनिया में जिस जगह जो कुछ देखेगा उसको उसी दृष्टि से दिखेगा । कदाचित् कई लोग हर्षविभोर हो रहे हों तो वह दु:खी पुरुष उन्हें सनीमा के पर्दे पर दिखाने वाले चित्रों की भांति झूठा बनावटी हर्ष दिखेगा । जहां जिसकी रुचि होती है वह प्रत्येक घटनाओं में प्रत्येक बात का अर्थ अपने आप की रुचि के अनुसार लगाता है । तो यह अन्तस्तत्त्व का रुचिया ज्ञानी संत जब यह देख रहा है कि कर्मविपाक के होने पर ये विकार हुए, ये रागादिक भाव हुए, कर्मविपाक न होने पर ये विकार नहीं हुए तो अपने आपको अपने भीतर बड़ा सुरक्षित तक रहा है- यह तो ऐसा ही शुद्ध है, यह तो स्वरूप में प्रतिभासमात्र, चैतन्यमात्र हैं देखो ना- विकार के परिहार के स्वभावरूप से हूं यह मैं आत्मा, क्योंकि उनका होना न होना वह कर्मविपाक के अन्वयव्यतिरेकपर अवलम्बित है । देखो, किया क्या इस ज्ञानी ने उस निमित्त दृष्टि के वर्णन में ? शुद्ध अंतस्तत्व का ग्रहण किया, और ऐसी कलापूर्वक ग्रहण किया कि मानो वह तक रहा है कि यह सब विडम्बनाओं से अछूता ही है । जब उपादान दृष्टि से वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन में चले तो वहां तो एकत्व का ही दर्शन है । केवल एक अंतस्तत्व को, आत्मतत्त्व को, सहज आत्मा को ही देखने का व्रत है उस दृष्टि में । तो वहां भी अशुद्ध निश्चयनय से भी तको तब भी अन्य तत्त्व का परतत्त्व का परद्रव्य का आलम्बन न होने से उसकी सुध भी न रहने से दृष्टि एकत्व पथ वाली हुई तब उन रागादि विकारों को पनपाये कौन । परदृष्टिरूप जल का सिंचन होता रहता तो ये राग अंकुर पनपते रहते, किन्तु जब एकत्वदृष्टि की प्रधानता में निमित्त की सुध नहीं, आश्रय का ख्याल नहीं, पर

की दृष्टि नहीं ऐसे निश्चयस्वरूप की दृष्टि में रागादिक के पनपने का कारण न होने से वे रागादिक तरंग भी बुद्धि से बर्हिगत हो जाते हैं ।

एकदा एक उपादान में भवसृष्टि या शिवसृष्टि का योग - सर्वदशाओं में कुछ भी बात मानने पर इसमें कोई संदेह नहीं कि मेरे में जितनी परिणतियों की सृष्टि होती है वह सब मेरे उपादानकारण पर होती है । तो उपादान कारण की विधि से भवसृष्टि का करने वाला यह मैं आत्मतत्त्व हूं, और जिस काल में भवसृष्टि चल रही है उस काल में शिवसृष्टि नहीं रहती जैसे एक म्यान में दो तलवारें नहीं आती, जैसे एक पुरुष पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में एक साथ नहीं चल सकता, जैसे एक सुई किसी कपड़े को आगे पीछे दोनो तरफ एक साथ नहीं सी सकती इसी प्रकार एक उपयोग में भव की सृष्टि भी बने और शिवसृष्टि भी बने ये दो बातें एक साथ नहीं हो सकतीं । भवसृष्टि का आधार है अज्ञान, शिवसृष्टि का आधार है ज्ञान । ज्ञान और अज्ञान जैसी परस्पर विरोधी दशायें एक उपयोग में एक साथ कैसे सम्भव हैं ? तब जबकि भवसृष्टि हो रही है तो वहां शिवसृष्टि नहीं हैं ।

भवसृष्टि के अन्तःकारण के वर्णन में दृष्टव्य गुण- यह मै स्वयं भव की सृष्टि का करने वाला बन रहा हूं, ऐसा कहने में कार्य के प्रति उपादानदृष्टि का गुण ध्यान में आना चाहिए, न कि निर्दयता, क्रूरता, मलिनता आदि दृष्टि में आने चाहिए, कारण यह है कि यह चित्स्वरूप के भजन का प्रसंग है । भवसृष्टि का कारण बन रहा है ऐसा जानते हुएके समय में केवल उस कला पर ध्यान देना है कि उपादान कारण स्वयं नाना इन विकार परिणतियों रूप परिणम कर करके भी अपने परिणमन भाव का अव्यय कर रहा है । उस कला की दृष्टि से निहारना है और ऐसा कहने में केवल उसकी कला पर दृष्टि देना है जो आदेय है सबको मनोज्ञ है अथवा जैसे बड़े स्वर से गाने वाला है कोई, तो उसके रोने में भी ट्यून आती है । तो यहां भवसृष्टि का करने वाला है यह आत्मा, ऐसा कहते हुए में चूंकि आदेयतत्त्व रूप से इसकी भक्ति की जा रही है तो इसमें उन सब मलिनताओं को, कषायों को, उन सबको दृष्टि में लेकर इसे ग्लानी के योग्य करार न करना, म्लान तत्त्व को देखने के लिए यहां नहीं कहा जा रहा, किन्तु इस केवल आत्मा में उपादानतया किस तरह की यह लीला में बस रहा है उस पर दृष्टि दी गई है ।

भवसृष्टि के केवल अन्तःकारण पर दृष्टि होने से सृष्टि के मोड़ की संभावना:- यह चित्स्वरूप भवसृष्टि का करने वाला है । क्या किया इसने जिससे कि भव की सृष्टि बनी? करता क्या ? बाह्य में कोई भी किसी का कुछ नहीं कर सकता । केवल बाह्य पदार्थों को मैं कर देता हूं इस प्रकार की कल्पना भर ही तो करता है अज्ञानी मोही प्राणी । तो क्या किया इस जीव ने ?

अपने ही प्रदेशों में बसकर, अपने ही भावों में विडम्बनायें बना-बनाकर नाना कल्पनायें की, नाना विडम्बनायें बनायीं और फिर जिसके निमित्त से बाह्य में व्यक्तरूप यह हो गया । यह चित्स्वरूप, उसके ही मूल की बात मेरे में ही अपने आपके अन्त: शाश्वतस्वरूप है जिसके व्यक्तरूप में जन्ममरण कषाय विकल्प आदिक सृष्टि में आ रहे हैं । इन सृष्टियों पर ध्यान न देकर इन सृष्टियों का मूल क्या है उपादानतया, उस पर दृष्टि जगे तो यह भवसृष्टि की रफ्तार मुड़ जायगी और शिवसृष्टि की ओर यह आने लगेगा । ऐसी भवसृष्टियों में हमारा मूलभूतकारण यह मैं चैतन्यस्वरूप हूं, सो यह भी जानकर अन्त: इस ही पद्धति से इस चित्स्वरूप को जानकर उस पद्धति को तो छोड़ दूं और इस चित्स्वरूप को सेवता रहूं, ऐसे इस अन्त:स्वरूप के भजन से शिवमय, शान्तिमय स्थिति प्राप्त होगी ।

सहज प्रभु से सहज मिलन का भाव:- मेरा मैं कहां गुम गया ? खुद ही ढूंढ रहा, खुद को ढूंढ रहा । वाह कैसा संसार का खेल है । जगत के बाह्य पदार्थों में ज्ञान और आनन्द का ढूंढना यह खुद का ढूंढना नहीं कहलाता ? ज्ञान और आनन्द है क्या चीज ? सभी प्राणी ज्ञान और आनन्द की खोज कर रहे हैं इसमें तो कोई संदेह नहीं । ज्ञान और आनन्द क्या है ? वह मेरा ही तो स्वरूप है । उसे ढूंढ रहे हैं, अपने आप में ढूंढ रहे हैं पर किसी भी बाह्य इन्द्रिय के द्वारा यत्न करके बाहर खोजा जाय तो मैं न मिलूंगा । कितने ही संकल्प विकल्प करके मैं खोजा जाय तो न मिलेगा । जब मिलेगा तो सहज मिलेगा । प्रयास करके न मिलेगा । लोक में सहज मिलने की कला पाने के लिए पहिले कुछ उचित श्रम पुरुषार्थ किया जायगा । वह पुरुषार्थ है ज्ञानाभ्यास । मैं क्या हूं, ऐसी जानकारी के लिए जिस-जिस उपाय की जरूरत है उस उस उपाय के द्वारा ज्ञान का अभ्यास करना यह अति आवश्यक है । उसके बाद फिर सहज ही उस ज्ञानस्वरूप से मिलन होगा जिसके मिलन में एकमात्र वास्तविक आनन्द प्रकट होता है । इसमें इस मैं का ही आलम्बन हुआ । मैं का आलम्बन अपने आपके स्वरूप का दर्शन, यही है अति आवश्यक प्रयत्न पुरुषार्थ एक अपने सहज प्रभु से सहज मिलन के लिए। और इसी मिलन के बाद शिव की सृष्टि प्रारम्भ होने लगती है । जब तक अपने आपके इस सहज आत्मदेव का दर्शन नहीं होता तब तक शिव की सृष्टि नहीं बनती, भवसृष्टि ही चलती रहती है । यह स्वयं शिवस्वरूप है अतएव इस शिव चैतन्य तत्त्व के अवलम्बन से, अनुभव से शिव की मुक्तिमार्ग की सृष्टि होती है ।

भाव की सम्हाल का प्रताप- हम आप लोग केवल भाव ही तो करते हैं । जब भावमात्र करने का ही अधिकार है और उसकी स्वाधीनता है । हम हैं, अपने भाव कर रहे हैं तो थोड़ा इतना और पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है कि हम अपने भाव को स्वभाव के अभिमुख रूप किया करें । थोड़ा सा कर्णधार अपना कर्ण बदल दे तो गति की दिशा बदल जाती है । उपयोग बाहर

की ओर फिर रहा था तो संसार की सृष्टि रची जा रही थी । उपयोग अपने स्वभाव के अभिमुख हो जाय तो शिवसृष्टि बनने लगेगी । बात सुनने में सरल है । कहने में सरल है पर करने में ? करने की ओर कोई चले तो करने में भी सरल है । बाह्य पदार्थों में तो अधीनतायें हैं अनेक । जैसे किसी भी इन्द्रिय का सुख चाहिये, मानो रसना इन्द्रिय का सुख चाहिये, कोई मिष्ठ भोजन बनाना है तो पहिले तो पुण्य के अधीन, फिर समागम जुटाओ, चीजें इकट्ठी करो, फिर बनाने वाले को प्रसन्न करो, अच्छे दिल से बनाये । और, बना चुकने के बाद भी तो विश्वास नहीं कि वह खा भी लिया जायगा । कितने ही विघ्न बीच में आ सकते हैं और तिसपर भी वह सुख क्षणिक है । और भोग के काल में भी दुखरूप है और भोगने के बाद भी दु:खरूप है, ज्यादा खा गए, अब बीमार हो गए, अफरा चढ़ गया, कर्म बंध कर लिया उसका फल और आगे मिलेगा, पर आत्मीय आनन्द और स्वरूप के दर्शन में पराधीनता नहीं है । बस यहां पराधीनता है तो कर्ण अपना बाहर की ओर है । उसका निमित्त कर्मोदय है, यह बात ठीक है लेकिन हम इस वृत्ति से बचने का जब भी प्रयत्न बनायेंगे तो वह प्रयत्न बनाना ही तो पड़ेगा।

दु:खमय संसार से विरक्त होने में लाभ- भैया ! अब कुछ चित्त में यह बात आनी चाहिए कि रुलते रुलते हमारा सारा समय गया, अब तो भव से मुक्त होने का उपाय बनाना चाहिए, सार कुछ नहीं है । कितना भी जियो, कितने भी साधन जुटाओ, कितनी ही धन सम्पदा जोड़ लो, कितना ही अपना मौज ले लो, लेकिन सार कहीं रंचमात्र भी नहीं है । देखते जाते हैं सब फिर भी स्वीकार नहीं करते । जैसे जिसको शराब पीने का चस्का लगा है तो शराब वाले की दुकान पर जाकर कहता है कि हमें बहुत बढ़िया शराब दो । तो दुकानदार ने बहुत समझाया कि हां हमारे पास बहुत बढ़िया शराब है, घटिया शराब तो हमारे पास है ही नहीं । तो वह बोला अजी बहुत ही बिढ़िया शराब दो । तो दुकानदार ने कहा- तुम तो हमारी दुकान पर इन बेहोश पड़े हुए लोगों को ही देखकर समझ लो कि यहां बिढ़िया शराब है कि नहीं । सो भाई जगत के इन दु:खी जीवों को निरखकर जो बेहोश हैं, दु:खी हैं पेड़ पृथ्वी कीड़ा मकोड़ा पतिंगे पशु पक्षी आदि, इन सब दु:खियों को ही निरखकर विश्वास कर लो कि यह सारा संसार दु:खमय है । ऐसा जानकर इन दु:खों से पिण्ड छुड़ायें । होते हैं दु:ख तो होने दो । सहनशीलता तो बढ़ जायगी ऐसा विश्वास करने में कि संसार में होता ही यह है ।

महत्वपूर्ण दुलर्भ नरजीवन के क्षण व्यर्थ न गमाने का अनुरोध- दु:खमयी संसार में अपने आराम के मौज के लिए विकल्प बनाना और दुर्लभ नरजीवन के ये क्षण खो देना यह विवेक नहीं है । यहां तो यों समझना है कि जैसे किसी नगर में राज्यशासन चलाने का यह नियम था कि अपनी प्रजा में से किसी एक को राजा चुन लिया जाय एक वर्ष के लिए, एक वर्ष के बाद उसे बीहड़ भयानक जंगल में फेंक दिया जाय ताकि राजा का अपमान न हो कि यह राजा था, अब इस

तरह रह रहा है । रहेगा जंगल में । कितने ही वर्ष कई राजा हुए, सबकी दुर्दशा हुई । एक बार एक बुद्धिमान पुरुष भी चुनने में आ गया । और उसे ज्ञात था कि यहां ऐसा नियम है, खैर होने दो नियम । एक वर्ष के लिए तो हम राजा हैं, उसने उस एक वर्ष में सैकड़ों एकड़ भूमि जंगल के बीच साफ करवा ली । वहां पर बहुत सी कोठियां बनवा दी, बहुत से नौकर भेज दिये, कृषि का सारा सामान भिजवा दिया और कृषि होने लगी । एक वर्ष का समय जब व्यतीत हो गया तो वह राजा जंगल में छोड़ दिया गया । तो अब उसे वहां क्या तकलीफ ? वह तो आराम से रहने लगा । तो यों ही यहां का रिवाज है इस संसार शासन के चुनाव में हम आज मनुष्य बन गए हैं, मनुष्य ही यहां के सब जीवों का राजा है अपनी कुछ करनी से, कुछ शुभ भावों से, पुण्योदय से मनुष्य भव मिल गया, पर यहां अधिक से अधिक १०० वर्ष का जीवन समझ लो, इतने से समय के लिए हम राजा बने हुए हैं इसके बाद बीहड़ भवकानन में पशु पक्षी स्थावर आदिक योनियों में छोड़ दिये जायेंगे । अच्छा रहने दो रिवाज। बुद्धिमान हो कोई तो वह यह समझेगा कि इस मनुष्य जीवन में तो हमें श्रेष्ठ मन के कारण बहुत अधिकार प्राप्त हैं । बस लग जाय ज्ञान आराधना में, तत्त्वाभ्यास में, १०० वर्ष बाद फिर मरण होगा, फिर क्या डर है ? वह दुर्गति में न जा सकेगा । तो इतने अमूल्य क्षण हैं हम आपके, और, इनमें जो क्षण गुजर जाता है वह क्षण मिन्नत करने पर भी प्राप्त नहीं होता ।

सरलता पौरुष व विवेक में किसी की कमी होने पर उद्धार का निरोध- बूढ़े जवान हम आप सब लोगों का भी तो बचपन था पहिले, और अब अंदाज करते हैं कि हम आप लोगों के बचपन का समय आजकल के समय से बहुत अच्छा था, सभ्यता के ढंग का रहन सहन था, सभ्यता के ढंग का हृदय का बनता था, बड़ों के प्रति आदर बुद्धि रहती थी । खेल कूद में भी किसी को न सताते थे, वे सब बातें आजकल दृष्टिगत नहीं होतीं, लेकिन जो गया सो गया । कोई उपाय है क्या ऐसा कि हम आप लोगों का वही बचपन फिर आ जाय । अगर आ जाय तो अब गलती न की जायगी । मनुष्य की तीन अवस्थायें तीन प्रकृतियों का प्रतीक हैं बचपन तो सरलता का स्थान है, जवानी कर्मठता का स्थान है और बुढ़ापा सच्चे निर्णय का स्थान है। वृद्ध पुरुष जितने चाहे प्रकार से किसी घटना का निर्णय कर सकते हैं, ऐसा निर्णय करने का माद्दा जवान और बालकों में नहीं है- कर्मठता, प्रगतिशीलता जो जवानों में है वह बचपन और वृद्ध अवस्था में नहीं है और सरलता बचपन में है, पर अभ्यास के द्वारा किसी भी अवस्था में ये तीन गुण प्राप्त किये जा सकते हैं- सरलता, कर्मठता और विवेक । इन तीन में से जहां एक दो अलग हैं अलग की वह महिमा नहीं है, न सफलता है, जब ये तीनों एक साथ उपयोग में समाते हैं तब जीवन धन्य हो जाता है ।

वृद्धविवेक का एक दृष्टान्त- बूढ़ों के विवेक का एक दृष्टान्त सुनिये । एक बारात में लड़की वाले ने यह कह दिया कि आप लोग बारात तो लायें लेकिन बूढ़ा आदमी एक भी साथ में न लायें । तो कुछ लोगों ने विचार किया कि वृद्धों को बारात में आने के लिए क्यों मना किया गया ? इसमें कोई रहस्य की बात अवश्य है । सो उन जवानों ने एक काठ की छिद्रदार ऐसी पेटी बनवायी कि जिसके अन्दर हवा प्रवेश करती रहे । उस पेटी के अन्दर एक बूढ़े आदमी को भरकर बन्द कर दिया और सब सामान के साथ उसे बारात में ले गये । वहां पहुचने पर लड़की वाले ने गिनती की तो कुल ३५ बाराती थे । अब उसने अच्छी बड़ी करीब १-१ किलो की ३५ गुड़ की भेलियां बारात में भेज दीं और सबसे कहा कि इन सब भेलियों को तुम्हे खाना होगा ।अब वे इतनी बड़ी एक-एक भेली कैसे खा सकें, यह समस्या सामने आ गई । तो दो एक बरातियों ने उस बूढ़े के पास जाकर पूछा कि हम लोग इतनी बड़ी गुड़ की भेलियां कैसे खायें ? तो बूढ़े ने सलाह दी कि तुम सभी लोग एक-एक भेली न खाओ, हंसते खेलते हुए उन सभी भेलियों से नोच नोचकर खाओ तो सभी भेलियां खाने में आ जायेंगी । उन सब बरातियों ने वैसा ही किया तो सारी गुड़ की भेलियां खा ली गईं । तब लड़की वाले ने कहा कि हमें लगता है कि तुम लोग अपने साथ में किसी बूढ़े आदमी को जरूर लाये हो, बतलाओ कहां है ? कर्मठता की बात है आप जानते ही हैं ।

कर्मठता सरलता व विवेक के योग की महिमा–जहां बल विशेष है, जवानी का जोश है वहां कोई काम असम्भव सा नहीं लगता । जहां बुद्धि लगेगी उस ही में यत्न करके लग जायगा युवक । जहां विवेक नहीं रहता और कर्मठता की बात रहती है वहाँ ऐसीसी ही तो विडम्बना हो जाती कि खर्च भी अधिक कर डाला, लाभ कुछ न मिला । बच्चों में सरलता होती है इसके अनेक दृष्टान्त भी आपने सुने होंगे । जैसे-कोई सेठ को आता हुआ देखकर किसी बाबूजी ने अपने बच्चों से कह दिया कि देखो बेटा- अमुक सेठ आ रहा है । अगर वह यहां आकर पूछे कि तुम्हारे बाबूजी कहां है तो कह देना कि हमारे बाबूजी बाहर गए हुए हैं । बाबूजी तो घर के अन्दर बैठे रहे । वह सेठ आया, बच्चों से पूछा- कि तुम्हारे बाबूजी कहां हैं? तो उस बच्चे ने कहा- हमारे बाबूजी बाहर गए हुए हैं, फिर सेठ ने पूछा- तो कहां गए हुए हैं ? तो बच्चा बोला- अच्छा ठहरो यह बात भी हम बाबूजी से पूछ आयें फिर बतावेंगे तो ऐसी सरलता होती है बच्चों में । माया छल कपट रहित और ज्ञान वैराग्यसहित जो एक ज्ञान प्रगति के मार्ग में चलना है यही कदम एक श्रेष्ठ कदम है, बाकी आप कितनी ही सम्पदा जोड़कर रख जावें तो उसका क्या होगा ? पुत्र सपूत तो क्या धन संचै, पुत्र कुपूत तो क्या धन संचय । लोग तो कह बैठते हैं- अरे यदि हमारा मरण हो गया तो उस धन का उपयोग हमारे लड़के लोग करेंगे ? पर वह मर जाने वाला तो कहां का कहां पहुंच गया, वहां तो उसके दूसरे ही बच्चे होंगे, वे पहिले वाले लड़के

बच्चे तो अब इसके कुछ न रहे । तो इस मायामय संसार में अपना कुछ भी प्रताप बढ़ा लेना सब बेकार हैं। कपट, प्रमाद व अविवेक तजें । सरलता, पौरुष व विवेक से ही पार पा सकेंगे । यहां अन्य किसी से प्रीती न करें, एक अपने आत्मज्ञान से प्रीती रहे ।

विषयों के प्रसंग में क्लेश, किन्तु शिवसाधन में सर्वत: आनन्द- संसार का दुखमय स्वरूप जानकर जिसने संकल्प के साथ एकचित्त होकर अपने आत्मस्वरूप के अवलोकन की ओर ही झुकाव रखा तो यही एक उसका सारभूत काम है । जब ही यह जीव अपने आपके शिवस्वरूप चैतन्यमात्र सहज स्वभाव का अवलम्बन लेता है तो उसकी शिवसृष्टि प्रारम्भ होने लगती है । वह शिवसृष्टि क्या है ? आत्मा के स्वरूप का श्रद्धानुरूप प्रर्वतन होना और ज्ञान इस ही आत्मस्वरूप के बराबर आकर आनन्द लूटता रहे, और इस ही ज्ञानस्वभावअंतस्तत्त्व के निकट उपयोग को रमाकर विशुद्ध आनन्द के घूँट पीता रहे अर्थात् आनन्दमय रहे । शिव की सृष्टि का उपाय कर लेने पर फिर कोई क्लेश नहीं होता । धर्मपालन आनन्दपूर्वक होता है और आनन्द देने वाला होता है और आनन्दमय रहता है । विषयों में तो आदि मध्य अन्त में कष्ट ही कष्ट है किन्तु इस मोक्षसाधन में कहीं भी कष्ट नहीं है । कोई क्रोध करना चाहता है, किसी की निन्दा करना चाहता है तो बहुत पहिले से भावों में संक्लेश बसाना पड़ेगा, फिर क्रोध निन्दा आदिक के समय भी भय और संक्लेश करना होगा, और क्रोध निन्दा आदि कर चुकने के बाद भी क्लेश संक्लेश सतायेंगे, ये सब उसे भेंट मिलेंगे । और, कोई बात बढ़ गई, दूसरा भी उस पर तुल गया तो भावी समय का खतरा बन गया । और कर्म बन्ध जो किया उसके उदय में आगे भी दु:ख पायगा । कोई आज हम आपको रोकने वाला नहीं है, लेकिन यह ध्यान में रखना है कि कार्माणवर्गणा सदा साथ है । ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि कषायभाव के जगने पर कर्म बन्ध हो ही जाता है और उसका उदय आने पर उसको दण्ड मिलेगा । जन्म मरण करना यह ही तो इस जीव को दण्ड मिल रहा है ।

संसारदण्ड से बचने का उपाय- भैया !संसार दण्ड न चाहिए तो जन्ममरण रहित, भवरहित, विकाररहित केवल अपने आपका जो सहज स्वरूप है उस सहज स्वरूप में अपना उपयोग लगाना चाहिए । वह सहज स्वरूप कैसा है कि शिव की सृष्टि कराने वाला है । और जैसे ही शिवसृष्टि होती है वैसे ही भव की सृष्टि मिट जाया करती है । ऐसी सृष्टि आत्मा के स्वभाव का स्वभाविक विलास है । भवसृष्टि का भी वही स्वरूप कारण है मगर वे विडम्बना होकर रो रोकर, दुर्गति होकर बनने वाले कार्य हैं किन्तु शिवसृष्टि का कार्य प्रसाद पूर्वक होता है, निर्मलता है, आनन्द है, निराकुलता है, स्वतन्त्रता है, समृद्धि की सम्पन्नता है, कृतार्थता है, जो चाहिए कल्याण, मंगल, सबके सब वहां प्राप्त होते हैं । ऐसी शिवसृष्टि का मूल कारण है यह सहज अंतस्तत्त्व । इसको कहते कि यह मोक्ष के कारण का कारण है । मोक्ष का कारण है

सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप धर्मपालन का आलम्बनरूप कारण है यह सहज शुद्ध चैतन्यस्वभाव जिसके आलम्बन से मुक्ति का मार्ग मिलता है, संसार की सृष्टि समाप्त होती है, उस ज्ञानमय चैतन्यस्वरूप को, उस शिवस्वरूप सहज चैतन्यरूप को मैं प्रकृष्टरूप से भजता हूं, सेवता हूं, उपासना करता हूं, एकतान होकर उसके अवलोकन में और रमण में रहना चाहता हूं । यह आत्मा संसार की सृष्टि का करने वाला है । यह आत्मा मोक्ष की सृष्टि का हरने वाला है, यह आत्मा मोक्ष की सृष्टि का करने वाला है, और यही आत्मा भवसृष्टि का हरने वाला है । इस तरह इसमें कितनी ही विधि की बातें कही गईं लेकिन उसके तथ्यस्वरूप को देखा जाय तो वहां से सर्वप्रकार की विधियों के विकल्पनय दूर हो जाते हैं । ऐसे सर्वविधि विकल्प के नयों से रहित शिवस्वरूप इस सहज चैतन्यस्वरूप की मैं उपासना करता हूं । जब आत्मा का अनुभव होता है उस समय आत्मा में क्या क्या शक्ति है, कैसी प्रसिद्धि है, क्या गुण है, ये सब विकल्प उसके दूर हो जाते हैं । अनुभव के समय में तो केवल निर्विकल्प स्व का अनुभव रहता है और यही अपने आपकी बड़ी ऊंची सेवा है जो अपने आपको निर्विकल्प अनुभव में लिया जाय, इस अनुभव में कुछ भी विधि के विकल्प नहीं उठते इस कारण कहा गया है कि यह मैं चित्स्वरूप सर्वविधियों के विकल्पों से रहित हूं ऐसे शिवस्वरूप सहज निज अंतस्तत्त्व को मैं प्रकृष्ट रूप से भजता हूं ।

श्लोक 3

शिवसृष्टियकरं भवसृष्टियहरं, भवसृष्टियकरं शिवसृष्टियहरम् ।

गतसर्वनिषेधविकल्पनयम्, प्रभजामिशिवंचिदिदं सहजम् ॥३॥

निर्विकल्प सहज चित्स्वरूप की उपासना का भाव- यह मैं अंतस्तत्त्व न तो शिव की सृष्टि का करने वाला हूं न भव की सृष्टि का हरने वाला हूं, न भव की सृष्टि का करने वाला हूं न मोक्ष की सृष्टि का हरने वाला हूं । ऐसे विशुद्ध चित्स्वभाव के दर्शन किये जा रहे हैं कि जिसमें किसी भी प्रकार का उत्पाद और व्यय नहीं है । एक विकल्पात्मक दृष्टि से यह विदित हुआ था कि यह अंतस्तत्त्व भवसृष्टि का कारण है और शिवसृष्टि के हरने का कारण है, शिवसृष्टि के करने का कारण है, भवसृष्टि के हरने का कारण है, लेकिन जब और अन्तर्दृष्टि में चलें तो ये सब भी विकल्प दूर हो गए थे, अब विधिविकल्प से विलक्षण निषेधपरक अन्तरङ्ग दृष्टि में आते हैं तो यह विदित होता है कि न यह कुछ करने वाला है, न यह कुछ हरने वाला है, यह तो सहज एक चैतन्यमात्रस्वरूप है फिर इसके बाद और अन्तर्दृष्टि लगी तो वहां यह ज्ञात होता है कि निषेध के

विकल्प के अभिप्राय से भी यह दूर है । जैसे क्या क्या है आत्मा में ऐसा चिन्तन करना विधि का विकल्प है और अनुभव विधि विकल्प से शून्य है, इसी प्रकार इसमें क्या क्या नहीं है, इस प्रकार निषेध की बात सोचना ये निषेध के विकल्प हैं, पर अनुभव में निषेधक विकल्प भी नहीं हैं, ऐसे सहज चित्स्वरूप अन्तस्तत्त्व को मैं भजता हूं ।

सुगति और दुर्गति का आधार- यहां उस आधार पर दृष्टि ले जा रहे हैं कि जहां दृष्टि आने पर फिर किसी भी प्रकार का क्लेश संक्लेश, विकल्प, भ्रम, चिन्ता, शोक, भय आदिक नहीं रहते । यह सर्वचिन्ताहर तत्त्व है । इस सहज ज्ञानज्योतिस्वरूप अन्तस्तत्त्व को माने बिना इसकी प्रतीति और प्रतिपत्ति के बिना यह जीव संसार में कैसे कैसे नाना रूप रखता है बहरूपिया बनता फिरता है, सो यह सब प्रत्यक्ष है । देख लो जीव लोक को । जीव की दो स्थितियां हैं- एक निज चैतन्यस्वरूप में उपयोग समा जाय, सदा के लिए जन्म मरण के संकट टूट जायें, केवल ज्ञान और आनन्द का शुद्ध विकास रहा करे एक तो यह दशा और एक यह दशा कि नाना दुर्गतियों में जन्म ले, मरण करे और जिस जन्म में जो चीज मिले उसको अपना सब कुछ मान ले और म्याद पूरी होने पर वहां से चल दे, दूसरा जन्म ले, वहां जो कुछ मिले उसे अपना मान ले, यों जन्म मरण के चक्कर लगाते रहना और नाना क्लेश भोगते रहना एक यह दशा है 'कौन सी दशा हमें न चाहिए' और कौन सी दशा हमें चाहिए, इसका भविष्य, इसका निर्णय हमारे भावों पर निर्भर है । दूसरी कोई अधीनता या विघ्न की बात नहीं है, निर्णय करने की प्रबलता चाहिए और निर्णय किए हुए पर अटल रहने का भाव चाहिए । फिर इसे कोई चीज कठिन नहीं है । यदि संसार में ही रुलना है, पेड़ पौधे पशु पक्षी नरक निगोद ऐसी ही दुर्गतियों को प्राप्त करते रहना है तो इसके लिए यह निर्णय काफी है कि जो शरीर है सो मैं हूं और मेरे सुख इन सब विषयों से मिलते हैं, ऐसा विश्वास बना लेना यह भाव कर लेना काफी है, फिर खूब अच्छी तरह से विषम दुर्गतियों में, इन देह देहान्तरों में जन्म लेते जाइये, सुगम बात मिलेगी, और यदि स्वभाव में उपयोग समा जाय ऐसी विशुद्ध दशा चाहिए, निस्तरंग नीरंग ज्ञानमात्र शुद्ध ज्योर्तिमय और सदा के लिए ऐसी स्थिति चाहिए तो उसका पुरुषार्थ यह है कि एक अपना सुगम भाव ही बनाना है । मैं यह केवल चैतन्यस्वरूपमात्र हूं इस तरह का अपना भाव प्रबल बनाना है । उसका फल यह होगा कि हम उस शुद्ध दशा को भी प्राप्त कर लेंगे ।

उत्तमभविष्य के लिये आत्मनिर्णय की प्रथम आवश्यकता- भैया ! सब कुछ भविष्य आत्मस्वरूप के निर्णय पर है । धर्मपालन के लिए बहुत कष्ट सहते हैं, अनेक बार मन्दिर जाना, पूजन

करना, बहुत सुबह उठना, उपवास करना, सबका उपकार करना, सेवा करना आदि बहुत बहुत बातें कष्ट की सही जाती हैं, वे भी करने में आयें कुछ हर्ज नहीं, वे साधक ही हैं किसी अपेक्षा में लेकिन यह सत्य है कि अपने आत्मा के स्वरूप का निर्णय किए बिना किसी भी प्रवृत्ति से मोक्षमार्ग का धर्म नहीं बन सकता । तब समझिये कि आत्मस्वरूप का निर्णय कर लेना कितना अधिक आवश्यक है । जैसे किसी बड़ी लड़ाई के प्रसंग में केवल एक बात-बात की लड़ाई, हथियारों की नहीं, किन्तु जैसे नगर में हो जाया करती है, बहुत लड़ चुकने के बाद, बहुत दु:खी होने के बाद एक इस आशय पर आ लिया जाता है जैसे कि कोई छोटी सी बात सामने आती है और दोनो इस पर राजी हो जाते हैं कि पहिले अच्छा इसी का फैसला कर लो । यहां उनका विवाद मिटता है और सच्चा फैसला होने पर फिर भविष्य के लिए विवाद मिट गया । तो जब हम यह देख रहें हैं कि बहुत वर्षों तक बहुत कुछ हमने धर्म के लिए तन, मन, धन, वचन न्योछावर किया, कष्ट सहे पर आज हम स्थिति देखते हैं कि क्रोध कषाय हममें पहिले ही जैसा है । कोई घटना आ जाय, कोई प्रतिकूल हो जाय, कुछ बात न सुहाये, मर्जी के खिलाफ हो जाय तो क्रोध तो पहिले ही जैसा है, मान कषाय में भी फर्क नहीं, घमंड, अहंकार समय पाकर उखड़ ही जाता है । लोगों के बीच साधर्मी जनों के बीच रहकर उनकी निन्दा नहीं सह सकते । और कोई निन्दा या बेइज्जती का थोड़ा सा प्रसंग आये तो उसमें क्षुब्ध हो जाते हैं । अहंकार भी पहिले ही जैसा बना हुआ है । धर्म के लिए काम तो बहुत किया, पर कषायों में फर्क अब तक न आया । मायाचार, जैसे जैसे उम्र बढ़ती है, घटनायें बढ़ती हैं, परिग्रह बढ़ता है, आरम्भ बढ़ता है तो मायाचार भी उसके साथ-साथ बढ़ता है । हुआ क्या ? धर्मपालन के लिए तो बहुत श्रम किया मगर बात वहीं की वहीं रही।

मायाचार की वृत्ति कम नहीं हुई । लोभ कषाय की बात देखो तो यह भी कम नहीं हुई बल्कि बढ़ती ही गई । वर्षों तो हो गए धर्मपालन करते-करते, उपवास, दान, पूजा, सामायिक, ध्यान आदिक बहुत बहुत किये, पर मन लगाकर कुछ भी नहीं किया । खैर किया, लेकिन बात ज्यों की त्यों रह रही है, वैसी ही लोभ कषाय जग रही है, पहिले से भी और अधिक जग रही है, तो हुआ क्या कि धर्मपालन के लिए श्रम बहुत किया पर लाभ कुछ न पाया । तो अब इस निर्णय पर आ जाओ कि मुझे पहिले यह समझना है कि मैं क्या हूं, धर्म का पालने वाला यह मैं क्या हूं । धर्मपालन की बहुत लम्बी चौड़ी बात बाद में देखेंगे । अभी तो हमें इसी बात का निर्णय करना है कि मैं क्या हूं ।

आत्मनिर्णय के बिना शान्ति का अलाभ- अन्तस्तत्त्व का निर्णय करना कठिन नहीं है, क्योंकि विधि मार्ग में भावों को प्रगतिपथ मिलने का काम भर है । जैसे होशियार बालक को

विद्या सिखाते हैं तो एक उसे गति मिल गई, कुञ्जी मिल गई, विधि मिल गई तो कितना जल्दी विद्या में वह बढ़ता जाता है । दो तीन कक्षायें एक वर्ष में उत्तीर्ण कर लेता है, ऐसी तीव्र गति में बढ़ सकता है । उसे मार्ग मिल गया ना । तो अपने आपके स्वरूप के परिचय का यदि मार्ग मिल जाय तो बहुत ही शीघ्र, बड़े अच्छे रूप से हम अपने आप का धर्मपालन कर सकते हैं । मैं क्या हूं, इस निर्णय के बिना शान्ति मिल ही नहीं सकती । कैसे मिले ? आत्मनिर्णय के बिना दृष्टि रहेगी किसी पर के आश्रय में । और पर है अध्रुव, भिन्न, अहितमय, तो उसके आलम्बन से शान्ति की कैसे आशा की जा सकती है ? आत्मनिर्णय के बिना किसी भी ढंग में हम शान्ति का लाभ नहीं ले सकते । ऐसा जानकर हमें अन्य काम तो बाद में करना है, सबसे पहिले इसका निर्णय करना है कि मैं क्या हूं । कितनी अधिक आवश्यकता समझकर निर्णय करेंगे ? इतनी अधिक आवश्यकता समझकर निर्णय करना है कि हम प्रत्येक कार्य में इस विधि को और इस स्वरूप को जान जायें कि आत्मनिर्णय बिना हम धर्मपालन में कभी बढ़ नहीं सकते ।

धर्मपालनपरीक्षा- हमने धर्म किया इसकी परिक्षा यह है कि अपने आपमें समझलें कि हममें क्रोध कितना है ? पहिले जो क्रोध जगता था, जो घटनायें बनती थीं उससे कुछ कम हुए कि नहीं । कम तो होना चाहिए था, किन्तु अधिकांश यह देखा जाता है कि क्रोध और बढ़ जाता है । लड़के हुए, पोते हुए, बहुत घर में झमेला हुआ, कई लड़के हुए, उनमें नहीं बनती, न्यारे न्यारे होना है, सबका मेल बैठाना है, सबके रहने के साधन बनाना है, लो झंझट उमर बढ़ने पर बढ़े कि घटे ? कषाय वहां बढ़ गई । तो यह निर्णय करो कि मैने अभी धर्म नहीं किया । धर्म किया होता तो शान्ति अधिक मिलती । शान्ति नहीं मिल पा रही है उसका मूल कारण है धर्म से विमुख होना । आक के दूध को कोई खाये पिये तो क्या हाल होगा ? आक का एक छोटा पेड़ होता है, उस सारे पेड़ में दूध भरा होता है । जैसे किसी के कांटा लग गया हो तो उस कांटे की जगह पर आक का थोड़ा सा दूध डाल देने पर लगा हुआ कांटा कुछ बाहर को अपने आप ही खिंच आता है । वही दूध अगर किसी की आंख में पड़ जाय तो उसमें इतनी गर्मी होती है कि आंख फोड़ देता है । तो उस आक के पेड़ में जो दूध निकलता है उसका भी नाम दूध है । यदि उसे दूध जानकर कोई पी लेवे तो उससे अपनी हानि ही है लाभ कुछ नहीं है, तो दूध दूध दूध, इसी नाम पर नही अड़ना है, किन्तु है क्या असल में ठीक दूध, उसकी जानकारी करना है । यों ही, धर्म धर्म धर्म, केवल नाम पर ही नहीं अड़ना है किन्तु असल में धर्म क्या है, कहां है, कैसी धर्म की मुद्रा है, किस तरह उस धर्म का पालन होता है इन सब बातों को यथार्थ जानना है ।

सविधि धर्मपालन से लाभ- भैया ! विधि सहित कोई कार्य धीरे-धीरे भी हो तो कुछ समय बाद वह कार्य पूर्ण हो जाता है और उसमें आलस्य हो, उल्टे चलें, सोच लें कि मुझे तो ज्ञान मिला

है, आगे कभी इस ज्ञान को सम्हालकर जग से पार हो जायेंगे । अभी मन नहीं मानता तो मन को ही प्रसन्न करके जो चाहे कर लें लेकिन न ये सब ठाठ रहेंगे और न यह ठाठ मानने वाला रहेगा । यहां से तो विकल्प तोड़ना ही होगा । फिर अपने आपके स्वरूप में विराजमान इस अन्त: सहजस्वरूप का अवलम्बन करिये । दुकान बनायेंगे तो, मकान बनायेंगे तो कैसी बड़ी विधि से उसकी जड़ मजबूत बनाकर काम करते हैं पर धर्मपालन को एक ऐसा फालतू काम समझा है कि समय मिलेगा तो कर लिया जायगा । जब दिल में बड़ी तेज बात समा जायगी धर्म करने के लिए तब कर लिया जायगा, अभी से क्यों परेशान हों ? इस तरह जो धर्म के पालन की बात को मानते हैं कि यह काम तो बड़ी अवस्था वालों के करने का है, वे ही शास्त्रसभा में जाकर शास्त्र सुनें, वे ही पूजा पाठ करें, हम लोगों को तो अगर समय मिल गया तो यह काम करने का है, इस प्रकार जो धर्म के महत्व को खोकर धर्मपालन करते हैं तो ठीक है, करते जायें इस तरह से धर्मपालन, पर उन्हें उससे लाभ कुछ न मिलेगा । जैसे अनेक वृद्ध पुरुषों को देखते हैं कि उनमें कषाय पहिले से भी अधिक बढ़ गई यही हाल इस प्रकार के धर्म करने वालों का भी होगा । ऐसा समझो कि अभी उन्होंने धर्म किया ही नहीं ।

अधर्मपरिहार में धर्मपालन- कोई धर्मपालन करें और उसमें कषाय बढ़े यह कभी नहीं हो सकता । कषायरहित, विकाररहित चित्स्वभाव के अवलम्बन को ही तो धर्म कहा जाता है। तो वहां फिर कषायों के बढ़ने की बात ही क्या है ? असलरूप से धर्मपालन किया होता तो वहां हम यह सोच सकते थे कि इतना हमने अच्छा कार्य किया ? तो धर्मपालन आत्मस्वरूप के निर्णय बिना कभी हो ही नहीं सकता । इस कारण और और कुछ बातों को गौण करके एक इसमें ही खूब समय लगायें, समझें, चर्चा करें ध्यान करें कि धर्म क्या है, उसका स्वरूप क्या है । वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं, तो अपने आपके स्वभाव की हम परख तो करें नहीं और यह स्वप्न देखें कि हम धर्मपालन करते हैं और खूब किया धर्मपालन, अरे काम, क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह इन छ: विकार शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सके तो हमने धर्मपालन किया, और इनके वश रहे तो समझिये कि हमने धर्मपालन नहीं किया ।

भावानुसार फलभाजनता- दो भाई थे, सो एक दिन मंदिर में पूजा की बारी थी और रसोईघर के लिए लकड़ियां भी न बची थीं सो जंगल से लकड़ियां भी तोड़कर लानी थीं । बड़े भाई ने अपने छोटे भाई से कहा कि भाई तुम पूजा में चले जाओ और हम जंगल से लकड़ियां तोड़ लायें । छोटा भाई तो पूजन करने चला गया और बड़ा भाई लकड़ियां तोड़ने जंगल चला गया । अब बड़ा भाई जंगल में लकड़ियां तोड़ते हुए सोचता है कि हमारा छोटा भैया कैसा आनन्द से प्रभु का भजन कर रहा होगा, कैसा पुलकित हृदय होकर प्रभु की सेवा कर रहा होगा हम यहां कहां आकर व्यर्थ के झंझट में फस गये । उधर छोटा भैया मंदिर में पूजा करते हुए यह सोच रहा था

कि मेरा बड़ा भैया जंगल में आम जामुन आदि के पेड़ों पर चढ़कर डालियों में झूम रहा होगा, पके हुए आम जामुन आदि के फल तोड़ तोड़कर खा रहा होगा । लकड़ियां भी तोड़ रहा होगा । हम कहां यहां आकर झंझट में फंसे । तो भला बताओ वहां फल काहे का मिले ? फल तो भावों का है । काम कुछ कर रहे, भाव कुछ हैं तो फल तो भावों का ही मिलेगा ।

भावमात्र अन्तस्तत्त्व में भावमात्र का ही कर्तृत्व और स्वरूप में अकर्तृत्व- यह बात बिल्कुल स्पष्ट सामने है कि हम हर जगह भाव ही भाव करते हैं, भावों के सिवाय कुछ किया ही नहीं करते । तो अब भावों को सम्हालना, सही बनाना, लक्ष्य पर ले जाना, इन कामों में प्रमादी ही रहे तो अपने दुर्लभ क्षण ही तो गवां रहे हैं । तो निर्णय रखना है अपने स्वरूप का कि यह कैसा है । सहज अपने आप में किस प्रकार का है यह आत्मदेव ? एक प्रतिभासमात्र, अमूर्त, सर्वानन्दमय, स्वाधीन । ऐसा पवित्र है यह आत्मस्वरूप । उसको दृष्टि में लें तो काम बनेगा, और जिनको दृष्टि में हम बसाये रहते हैं उनसे कुछ काम न बनेगा इस दृष्टि से काम बनेगा । तो ऐसा जो आत्मा का विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है उस स्वरूप की सुध होने से ही अनेक संकट दूर हो जाते हैं, और जो शेष रहे संकट हैं वे इस ही ज्ञानस्वरूप के अभ्यास से निकट भविष्य में दूर हो जायेंगे । तो यहां ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि मैं अपना ही कुछ करने वाला, अपना ही कुछ हरने वाला हूं । पर इससे और अन्तरङ्ग में चलें तो मैं किसी का करने वाला भी नहीं, हरने वाला भी नहीं । समस्त निषेध विकल्पों से मैं दूर हूं । इस प्रकार विधिनिषेध के विकल्प से परे होकर निर्विकल्प ज्ञानमात्र अपने आपका चिन्तन करना यह अपने लिए बहुत लाभदायक बात होगी । यद्यपि मैं विधिदृष्टि में भवसृष्टि का करने वाला, शिवसृष्टि का हरने वाला, शिवसृष्टि का करने वाला, भवसृष्टि का हरने वाला हूं तथापि स्वरूप दृष्टि से मैं सर्वविधिविकल्पों से परे हूं । यद्यपि मैं भवसृष्टि का न करने वाला, शिवसृष्टि का न हरने वाला, शिवसृष्टि का न करने वाला, भवसृष्टि का न हरने वाला हूं तथापि मैं सर्वनिषेध विकल्पों से परे हूं । ऐसे मैं सहज इस चित्स्वरूप को प्रकृष्टरूप से सेवता हूं ।

श्लोक 4

परिणामगतं परिणामहरम्, परिणामभवं परिणामयुतम् ।

उपपादविनाशविकल्परहम्, प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम् ॥४॥

उपात्य तत्त्व की उत्तीर्णपर्यायता- जो पर्यायों में प्राप्त है फिर भी पर्यायों से रहित है जो परिणामों में उत्पन्न होता है अथवा परिणाम ही जिसका प्रयोजन है, परिणाम का होते रहना ही जिसका एक स्वभाव है, जो पर्यायों से युक्त है फिर भी उत्पत्ति विनाश के विकल्प से परे है, ऐसे सहजशिवस्वरूप चैतन्यस्वरूप को मैं प्रकृष्टरूप से भजता हूं । यह चित्स्वरूप अन्तस्तत्त्व पर्यायों मे गत है । अनादिकाल से जितने समय हैं, अनन्तकाल के जितने समय होंगे उतनी ही सूक्ष्म दृष्टि से इस आत्मा की पर्यायें हैं और यह आत्मा प्रत्येक पर्यायों में गत है, जैसे मनुष्य बचपन, जवानी, बुढ़ापा आदिक समस्त पर्यायों में प्राप्त है इसी प्रकार यह आत्मा आत्मा की समस्त पर्यायों में गुण पर्यायों में, द्रव्य पर्यायों में सब में यह गत है, गया हुआ है, पर्यायों में गत है । इससे सिद्ध है कि यह किसी भी समय एक पर्याय में रहता है और उस पर्याय को छोड़कर भी चल देता है । जैसे कोई पुरुष अनेक नगरों में गत है तो वह किसी समय एक जगह ही तो है, पर वह गया है, वह गांव अतीत हो जाता है जहां से वह पुरुष गुजर जाता है, ऐसे ही वे पर्यायें अतीत हो जाती हैं जिन पर्यायों से यह आत्मा गुजर जाता है । इसमें दो बातें अपने आप सिद्ध हो गयीं कि किसी न किसी एक पर्याय में जब कभी भी रहता ही है और जितनी पर्यायें पा चुका उन पर्यायों में अब नहीं रह रहा है ।

पर्यायों की द्रव्यगतता- पर्यायों में यह नहीं रहता, इसमें पर्यायें रहती हैं, अर्थात् आत्मा में पर्यायें उत्पन्न होती हैं, आधार आत्मा है, पर्याय आधेय है, पर जब काल की लम्बी दृष्टि से तकते हैं तो यह भाषा बनती है कि यह आत्मा पर्यायों में रहता है, पर्यायों से गत होता है फिर भी पर्यायों से यह परे है, पर्यायमात्र यह आत्मा नहीं है । जो दशा होती है, परिणती बनती है सो उन परिणतियों में तो यह गत है प्राप्त है मगर किसी परिणति रूप बनकर नहीं रहता । उस काल में तो उस पर्यायमय है, पर एक कालमात्र ही तो नहीं है सब कुछ । इस कारण कहा गया है कि पर्यायों में गत होकर भी यह आत्मा पर्यायों से परे है । बाल अवस्था को ही तो मनुष्य नहीं कहते । यदि बाल अवस्था को ही मनुष्य कहा जाय तो बाल्यावस्था मिटने का अर्थ यह हो गया कि मनुष्य मिट गया । इससे सिद्ध है कि मनुष्य बालअवस्था से रहित है । तो जैसे बाल अवस्था से रहित है । ऐसे ही जवानी बुढ़ापा आदिक सब अवस्थाओं से रहित है । तो क्या सर्वथा जवानी बुढ़ापा आदिक सब अवस्थाओं से रहित है मनुष्य ? तो सर्वथा ऐसा भी नहीं है । वह किसी भी समय किसी एक पर्याय में तन्मय रहता है । ऐसे ही आत्मा सर्व पर्यायों से परे है, किन्तु सर्वथा ऐसा भी नहीं है, वह तात्कालिक पर्याय से युक्त है ।

प्रतिबोधनार्थ अखण्ड वस्तु के अनुरूप भेद- वस्तु अखण्ड है उसको समझने के लिए ऋषि संतों ने ठीक अनुरूप भेद किया है । आत्मा ध्रुव है तो उसके भेद भी ध्रुव बनेंगे । तो जो भेदरूप से ध्रुव जाने गए उन्हें कहेंगे गुण । आत्मा में सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज आनन्द, सहज शक्ति,

सहज चारित्र, सहज श्रद्धान है, सहज का अर्थ है सुगम, स्वभाव, शाश्वत। स्वभाव शाश्वत जो शक्तियां हैं वे शक्तियां अनन्त हैं । शक्तियां अनन्त हैं यह कैसे जाना ? अखण्ड वस्तु में हम जितना समझ पाते हैं उतना ही उसमें से शक्तियां ढूंढते हैं । समझना है तो उसकी अब सीमा तो न रही । हम जहां तक जान पायें, जहां तक समझ सकें, वहां तक हमें शक्तियां प्रतीत होती हैं । तो अब यहां शक्तियों का अवगम जानने के आधार पर रहा । वस्तु तो स्वयं अपने आप में अखण्ड है । अब हम जितना समझ पाये सो बताते हैं, शास्त्रों में भी अनन्त शक्तियां कहां लिखी जा सकती हैं, लेकिन जब उसमें सीमा नहीं है तो कुछ ही शक्तियां ज्ञात की जा सकती हैं बताई जा सकती हैं । यों शक्तियां अनन्त हैं, और प्रत्येक शक्ति का कोई न कोई परिणमन रहता ही है । परिणमन रहित शक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती । है शक्ति तो वह अवस्था के द्वारा ही तो जानी गई । हम पर्यायों को निरखकर शक्तियों का ज्ञान करते हैं । पर्यायें शीघ्र समझ में आती हैं क्योंकि वे व्यक्तरूप हैं । पर्यायें तो हैं व्यक्त, शक्तियां हैं अव्यक्त । तो व्यक्त पर्यायों को जानकर चूंकि ये पर्यायें परस्पर भिन्न हैं और पर्यायों का आधार शक्ति है, न हो शक्ति तो यह परिणति कैसे बने इस रूप से परिणमने की शक्ति ? इस-इस तरह से निरखने पर अनेक गुण विदित होते हैं । ये गुण द्रव्य की तरह ध्रुव हैं और पर्यायें अध्रुव हैं ।

वस्तु में द्रव्यत्व और परिणमन की अवश्यंभाविता- यहां संक्षेप किया जाय तो पदार्थ और पर्यायें दो तो मानने ही पड़ेंगे । पदार्थ भी अखण्ड, पर्याय भी अखण्ड, पदार्थ की प्रत्येक समय में जो पर्याय है वह अखण्ड है, लेकिन अखण्ड पदार्थ में पदार्थ के अनुरूप याने ध्रुवता का उल्लंघन न करके जब भेद किया जाता है तो शक्तियां अनेक सिद्ध होती हैं । इसी प्रकार अखण्ड पर्याय में जब भेद किया जाता है तो पर्यायें भी अनेक हो जाती हैं, और, इस भेद दृष्टि में उन प्रत्येक पर्यायों में यह निरखा जा सकेगा कि इस गुण की यह पर्याय है, इस गुण की यह पर्याय है । तो भेद दृष्टि से निरखिये कि आत्मा पर्यायों में प्राप्त है, पर्यायों में गुजरता है, नई पर्याय बनती है, पुरानी पर्याय विलीन होती है । बस इसी के मायने हैं कि यह द्रव्य पर्यायों में गत है ।

वस्तु की द्रव्यपर्यायोंभयमयता- कोई लोग ज्ञान सुख दु:ख आदि पर्यायों का ही एकान्त करते हैं और पर्यायों को ही चेतन समझते, सर्वस्व जानते और पर्यायों में रहने वाले को मिथ्या कहते । जैसे तेल की बूंदें एक-एक जल रही हैं और उससे दीपक बन रहे हैं तो जो एक दीपक आध घंटे तक जलता हुआ दिखा वह एक दीपक नहीं है किन्तु जितनी बूंदें हैं उतने ही वे दीपक हैं । लेकिन लगातार दीपक होते रहने से उनकी संतान बन गयी और उस संतान में एक दीपक की कल्पना करने लगे, पर उनके जितने तैल अंश हैं उतने ही दीपक हैं, इसी प्रकार सर्वपदार्थों को यह भेदवादी, पर्यायवादी, क्षणिकवादी मानता है कि इतने ही सर्व पदार्थ हैं, पर उस उस प्रकार के पदार्थों के उत्पन्न होने की परम्परा जो लग गयी उससे लोगों को एकत्व का भ्रम बन गया,

पर पदार्थ एक नहीं है, प्रतिसमय में होने वाले वे पदार्थ अनन्त हैं । तो एक ने पर्याय को प्रधान मानकर द्रव्य को गौण किया, तो किसी दार्शनिक ने उस द्रव्य को ही प्रधान मानकर पर्याय को इतना गौण किया कि पर्याय की स्वीकारता ही न रही। गौण करना क्या, माना ही नहीं । जैसे पर्यायवादी ने द्रव्य को माना ही नहीं, ऐसे ही द्रव्यवादी पर्याय को मानते ही नहीं । तो जब ऐसा सोचा जाता है कि पर्यायें नहीं, केवल द्रव्य है, तो उस द्रव्य को अपरिणामी, नित्य, अगम्य आदिक शब्दों से कहने पर ही कुछ छुटकारा हो पाता है लोगों के प्रश्न का जवाब देने से, पर कोई भी स्थिति ऐसी नहीं है जो परिणमनशून्य हो, एक द्रव्यमात्र हो, और न ऐसा है कुछ कि द्रव्यशून्य हो और केवल एक एक समयवर्ती ही कुछ हो । इस कारण वस्तु को द्रव्य पर्यायात्मक मानना चाहिए । वह शाश्वत है, यह तो है द्रव्यरूपता और क्षण क्षण में नवीन नवीन बनता है, परिणमन करता है, यह है उसका पर्यायरूप । आत्मतत्त्व पर्यायों में गत है फिर भी पर्यायों से रहित है । पर्याय का अध्रुव स्वरूप है । द्रव्य का आत्मा का शाश्वत स्वरूप है । वे दो यद्यपि एक नहीं हो सकते लक्षण से फिर भी वे अलग-अलग नहीं, दो सत् नहीं, किन्तु एक ही चैतन्यसत् का समय-समय पर उस उस प्रकार की अवस्था बनती जाती है । तो यह मैं सहज चित्स्वरूप परिणामों में गत हूं और परिणामों से रहित हूं । परिणाम का अर्थ है यहां पर्याय, परिणमन । मैं आत्मा यहां किसलिए हूं, क्या हूं, इन दो प्रश्नों का यर्थाथ उत्तर आत्मा का उद्धार कर देगा। मैं क्या हूं, यह तो बड़े विस्तार से कथन चल ही रहा है । अमूर्त प्रतिभासमात्र पर्यायों में गत होकर भी पर्यायों से रहित शाश्वत चैतन्यमात्र मैं हूं ।

पदार्थों के अस्तित्त्व का प्रयोजन- यह मैं किसलिए हूं, वस्तुत: हूं और होते रहने के लिए ही हूं, इससे आगे और कोई प्रयोजन नहीं । प्रत्येक पदार्थ के सत्त्व का प्रयोजन सत्त्व ही है, रहा आये इसीलिए वह है । इसके आगे और मेरी ओर से कुछ उपयोग नहीं जो किसी के काम आ सके, किसी के लिए उसका उपयोग हो जाय । उपयोग का अर्थ उपभोग (use) । ऐसा कोई पदार्थ नहीं होता कि जिसका प्रयोजन कोई अन्य द्रव्य बन जाय । तो प्रत्येक पदार्थ जो है सो है रहने के लिए है । उनका और कुछ प्रयोजन नहीं, इसीलिए उनका ज्ञाता दृष्टा रहने में ही भला है । मैं आत्मा भी हूं तो हूं रहने के लिए ही हूं । इसके आगे मेरे सत्त्व का और कोई प्रयोजन नहीं । जैसे मोही अज्ञानी जीव समझते हैं कि मैं घर गृहस्थी बसाने के लिए हूं, व्यवस्था बनाने के लिए हूं, खाने पीने के लिए हूं, जैसे कि नाना पर्यायें बनाया करता है अज्ञानी, पर वे सब मिथ्या बातें हैं, अर्न्तदृष्टि करके निरखो कि मैं हूं, तो किसके लिए हूं, किसी दूसरे के लिए नहीं हूं, स्वयं के लिए हूं, सो स्वयं में भी इसे क्या करना है । जब तक बुद्धि रहेगी करने की कि मुझे यह करना है, मुझे करने को यह काम पड़ा है तब तक तो वह संकट में है, यर्थाथता में नहीं है, यथार्थता का अनुराग नहीं होता है, और जब अपने आपके सत्यस्वरूप का अनुराग हो जाता है तो

सुविदित हो जाता है कि मैं हूं तो हूं रहने के लिए ही हूं और कुछ करने धरने की बात यहां है ही नहीं । क्या करूं किसे करूं ? कुछ सार रखा है क्या दूसरे पदार्थ में जिसके विषय में मैं करने का विकल्प लिए रहता हूं । जैसे सर्व पदार्थों के प्रति सोचा जा सकता है कि यह है तो किसलिए है, ऐसे ही पदार्थ के नाते से अपने बारे में भी सोचना चाहिए कि मैं हूं तो किसलिए हूं । लोग कहते हैं कि जो कुछ पैदा होता है वह मनुष्य के उपभोग के लिए है । खेती बाड़ी हो, फल पैदा हों, अन्न पैदा हो, ये सब किसलिए हुए हैं ? ये सब खाये पिये जाने के लिए हैं, पर बात ऐसी है नहीं । यह मनुष्य रागी अपने विषय साधन के लिए कुछ कहे वह उसकी बात है पर गेहूं, फल आदिक जो कुछ भी हैं उनकी ओर से उनसे पूछो । वे तो जवाब न देंगे पर उनका स्वरूप जवाब देगा । हम ही जवाब दे लेंगे कि ये किसलिए बने हैं । ये हैं रहने के लिए बने हैं, किसी के खाए जाने के लिए नहीं ? बराबर यही उत्तर मिलेगा प्रत्येक पदार्थ में । अब वे पदार्थ हैं तो अपना अस्तित्त्व बनाये रखने के लिए और यहां मनुष्य समझते हैं कि ये सब मेरे लिए हैं तो आप देखिये पदार्थों के साथ हमारा नाता बिगड़ गया, विपरीत दृष्टि हो गयी । जैसा शुद्ध प्रयोजन है वैसा ही निरखता रहे तो उसमें भलाई है निराकुलता है कभी क्षोभ नहीं आ सकता । तो यह मैं आत्मा हूं, अपना आपका अस्तित्व बनाने के लिए हूं । हूं तो हूं रहना ही है इसीलिए सदा रहता हूं । इससे आगे मेरा दुनिया में कोई प्रयोजन नहीं है । इस भीतर के मर्म का परिचय हो तो इस जीव की आकुलतायें दूर होंगी ।

आत्मतत्त्व की परिणामगतता व परिणामरहता- यह मैं सहज परमात्मतत्त्व चैतन्यस्वरूप पर्यायों मे गत हूं, फिर भी पर्यायों से रहित हूं । पर्यायों में जाना, पर्यायों से रहित होना यह बात उत्पाद और विनाश के बिना नहीं हो सकती । पर्यायों में जाना तो जाना होता है नवीन पर्यायों की प्राप्तिरूप, वह तो उत्पाद को सिद्ध करता है और जाने में गत छूट जाता है । उसका ही विनाश । तो अवस्थायें उत्पाद विनाश के बिना बन नहीं सकतीं । मैं हूं तो मेरा विकास मेरा परिणमन सब कुछ जो हो रहा है वह मेरा उत्पादव्यय स्वभाव के कारण हो रहा है, इस तरह यह आत्मा पर्याय में गत है फिर भी पर्यायों से रहित है । यह तो एक पहेली सी हो गयी । जैसे लोग पहेलियां बोलते हैं, अखबारों में छपती हैं जिसे पढ़कर एकबार आश्चर्य भी आ जाता कि ऐसा क्या ? इसी प्रकार यह भी एक पहेली है कि पर्यायों में है और पर्यायों से परे हैं, ऐसी क्या चीज है बताओ । ज्ञानी जगत में एक यह पहेली बन गई बताओ ऐसी कौन सी चीज है, वह कौन है जो पर्यायों में जाता है फिर भी पर्यायों से रहित है ? यह है परमार्थ सहज स्वरूप ।

आत्मा की स्वप्रयोजकता- यह सहज शिव चित्स्वरूप परिणाम भव है । परिणामों में पर्यायों में इसका अस्तित्व है परिणमन होना ही इसका प्रयोजन है, ऐसा यह सहजस्वरूप परिणाम में ही अवस्थित है, पर जैसे दूध में घी को निरखने वाले बिरले ज्ञानी ही होते हैं ऐसे ही पर्यायों में उस

द्रव्य स्वरूप को निरखने वाले बिरले ही ज्ञानी होते हैं । यहां कह रहे हैं कि पर्याय ही जिसका प्रयोजन है और जो दिख रहा है उसे निरखकर यह कहना कि द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, पर्यायें क्यों हुई इन पर्यायों का क्या प्रयोजन है ? इनका द्रव्य ही प्रयोजन है, ये तो हुई और मिट गईं, ये तो अपना अस्तित्व खो देती हैं, नवीन पर्याय हुई पुरानी पर्याय विलय को प्राप्त हुई, पर्यायें तो अपना अस्तित्व खोती जाती हैं । ऐसी यह कुर्बानी पर्यायों का यह बलिदान किसलिए है । जिस आधार में पर्यायें हुई हैं ये पर्यायें उस आधार के लिए हुई हैं । गरीबों की ऐसी ही स्थिति होती है । करेंगे, मिटेंगे किसके लिए ? उनका उपयोग प्रयोजन कैसे मिलेगा ? समृद्ध पुरुष के लिए । इन पर्यायों की यह वृत्ति अपना सब कुछ न्यौछावर कर देना, बलिदान हो जाना, इसका प्रयोजन क्या हुआ ? वही एक परमार्थ पदार्थ रहा । द्रव्य इनका प्रयोजन रहा ।

ज्ञानी की परमार्थ प्रायोजनिक तत्त्व पर दृष्टि- किसी ओर से कुछ भी निरख लो, जिनका ज्ञान स्पष्ट है वे प्रत्येक वर्णन से, प्रत्येक निगाह से, प्रत्येक मंतव्यों से एकमात्र सारभूत प्रयोजन जरूर निकाल लेंगे, इसीलिए ज्ञानी पुरुषों की कदर है । जिन्होनें अनेकों को सारभूत समझा है वे गौरवहीन हैं, गरीब हैं, क्योंकि अनेकों को सारभूत समझने से वे किसी भी एक सार में नहीं आ पाया न उसका निर्णय रह गया, न उसका कोई दृढ़ आलम्बन रह सका और सारभूत अनेक होते ही नहीं किसी के लिए । अनेक हो सार तो क्या वे सब अनेक बराबरी के सारभूत हैं या हीनाधिकता से सारभूत हैं । प्रश्न उठाओ कि बराबरी के सारभूत हैं तो यह प्रत्यय न हो पायगा कि यह सारभूत है और कमीबेसी का सारभूत है तो इसका अर्थ है कि वह सारभूत है ही नहीं । आत्मा के लिए सारभूत केवल एक ही कुछ हो सकता है । तो आत्मा का सारभूत है केवल द्रव्य दर्शन, स्वरूप दर्शन सहज स्वरूप वही अपने आपके लिए सार है । तो इन पर्यायों का, इन परिणमनों का प्रयोजन क्या है ? उस एक का सत्त्व बना रहना, वह है, परमार्थ है । अब इस ओर से देखिये, उस सारभूत द्रव्य का प्रयोजन केवल परिणाम है, पर्याय है, किसलिए है द्रव्य ? बस व्यक्त रूप रहे । कुछ न कुछ अवस्था रहे इसके लिए है सब । तो पर्याय ही जिसका प्रयोजन है इसलिए सहज स्वरूप, ऐसा कहने से यह अर्थ निकलता है, यह ध्वनी निकलती है कियह पर्याय से परे है, लेकिन पर्याय का प्रयोजन इनके होने पर भी यह परिणाम से युक्त है । कभी भी कोई स्थिति कोई समय ऐसा नहीं आ सकता कि पदार्थ किसी भी पर्यायरूप न हो और अस्तित्व रहे । इस कारण कहा है कि वह परमपदार्थ परिणामयुक्त है ।

अलौकिक अद्भुत पहेली वाले की उपासना- अब ये चार मर्म विदित हुए कि यह मेरा स्वरूप मेरा मालिक, मेरा परमात्मतत्त्व प्रभु, रक्षक, शरण सब कुछ पर्यायों में गत है, प्रभु पर्यायों से रहित है । है तब इसकी पर्यायें होंगी ही, किन्तु पर्यायों में कोई दृष्टि अटकाये तो वह पर्यायदृष्टि होकर भटक गया । स्वतंत्र होकर जहां एकदम आनन्दधाम में पहुंचे ऐसी अपनी प्रकृति रुक गई

। तो आत्मा पर्यायों में गत है फिर भी पर्यायों से रहित है, ऐसा रूवरूप का ज्ञाता पुरुष धोखा नहीं खा सकता, अपने हित रूप शरण सार तत्त्व पर पहुंच जाता है । तो इसमें दो विशेषण आये, पर्यायों में गत है, पर्यायों से रहित है, और पर्याय ही इसका प्रयोजन है । परिणमता रहे, व्यक्त रूप रहे, बना रहे, बस यही उसका प्रयोजन है । लोकव्यवहार में प्रयोजन जुदे, देश जुदे द्रव्य की चीज होती है । लोकव्यवहारिक जैसा प्रयोजन यह नहीं । यह पर्याय से युक्त है, भिन्न नहीं है । जिस समय जिस पर्याय में द्रव्य आता है उस समय में वह द्रव्य उस पर्याय से तन्मय हो जाता है, ऐसी एक अद्भुत पहेली वाले को, कि जो पर्यायों में गत है और पर्यायों से रहित है, पर्यायों में उत्पन्न है, पर्यायें ही जिसका प्रयोजन है और पर्यायों से तन्मय है, ऐसे इस अन्त: चैतन्यस्वरूप को मैं प्रकृष्ट रूप से भजता हूं ।

वस्तु की उत्पादव्ययपरता- यह मैं सहज चैतन्यतत्त्व पर्यायों में गत हूं फिर भी पर्यायों से रहित हूं । पर्यायोंमय होता हूं । पर्याय ही मेरा प्रयोजन है और जिस काल में जो पर्याय होती है उस काल में मैं पर्यायमय हूं, तिस पर भी मुझमें उत्पादव्यय के विकल्प नहीं हैं । परमशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से निरखा जा सकने वाला यह चैतन्यतत्त्व उत्पादव्यय के विकल्पों से दूर है अर्थात न वह उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है । वह तो एक सहज चैतन्यस्वरूप है । ऐसे सहज शुद्ध चित्स्वरूप को मैं प्रकृष्टरूप से भजता हूं । भजना, सेवना, भोगना, अनुभवना ये सब अनर्थान्तर हैं । मैं चित्स्वरूप को भजता हूं, इसका भाव है कि मैं चित्स्वरूप को सेवता हूं, भजता हूं, अनुभवता हूं, अर्थात् उपयोग में मात्र शुद्ध सनातन चित्स्वरूप ही विराजा रहे ऐसी दशा में मैं होता हूं, यही वास्तविक चैतन्य महाप्रभु की उपासना है । स्वरूप में उपयोग समा जाय बस यही मात्र तो ज्ञानी का कर्तव्य है । जिसको सत्य बोध हो गया हो ऐसे पुरुष की धुन में केवल एक यही बात है कि स्वरूप में मेरा उपयोग समा जाय, और मुझे कुछ न चाहिए । कर्म के उदयवश कुछ घटनायें हों उन्हें भी भोगता हूं, किन्तु शुद्ध अन्तस्तत्त्व की प्रतीति उसकी धुन अकाट्य है । उसका अन्तिम निर्णय है कि स्वरूप में उपयोग समाये जाने के बिना इस जीव का उद्धार नहीं है, ऐसे उद्धार के एक मात्र अवलम्बनस्वरूप चित्प्रभु को मैं सेवता हूं ।

श्लोक 5

स्वचतुष्टयमूलमभिन्नगुणम् , मतिदर्शनशक्ति सुशर्ममयम् ।

अचलं शिवशंकरदृष्टिपथम्, प्रभजामि शिवं चिदिदं सहजम् ॥५॥

उपासक का उपास्यतत्त्व- यह मैं ही उपासक और मैं ही उपास्य । जिसकी दृष्टि करना है, पूजा करना है, उपासना करना है वह भी मैं हूं और जो उपासना करेगा वह भी मैं हूं । इस अहं

प्रत्ययवेद्य आत्मपदार्थ के भेददृष्टि से उपास्य और उपासक के भेद किए गए हैं । अभेद दृष्टि से तो बस है यह और परिणमता है । जब स्वभावास्पर्शन रूप परिणमन बनता है तो उसी को भेद दृष्टि से उपासक और उपास्य के रूप में रखा जाता है । तो ऐसा उपास्य मैं सहज परमात्मतत्त्व स्वचतुष्टय का मूल हूं, आधार हूं । भेददृष्टि जितनी की जाती है उसका आधार कोई एक अखण्ड पदार्थ है ना, याने किसको निरखकर किसका विकल्प बनाकर यह भेद और गुण पर्यायों का विस्तार किया गया है ? वह है यही सहज चैतन्यस्वरूप । इसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से पहिचाना जाता है । प्रत्येक पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जाना जाता है । और, इसी कारण सभी दार्शनिकों ने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का उपयोग किया है । उन्होंने अनेकों ने यद्यपि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव शब्दों के मर्म को नहीं जाना और न इस शब्द पद्धति का उपयोग किया, लेकिन चारा ही नहीं है कुछ अन्य कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के विषय को छोड़कर कोई कुछ जान सके ।

वस्तुविज्ञान का माध्यम- वस्तु विज्ञान का माध्यम ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है । जो लोग भी कुछ बात करेंगे, ज्ञान करेंगे, परिचय करेंगे वे सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय करके ही करेंगे । चाहे इस पद्धति को न मानें पर उपयोग तो करेंगे ही । जैसे कि आत्मा को न मानने वाले नास्तिक लोग भी तो कुछ समझ कर ही तो आत्मा की मनाई करते हैं कि समझ बिना करते हैं ? तो आत्मा के ज्ञान का कुछ बल लिये बिना नास्तिक भी आत्मा का निषेध नहीं कर सकते । सो देखो नास्तिक लोग भी आत्मा नहीं मानते और आत्मगुण का उपयोग कर रहे हैं । मना करने में भी तो ज्ञान चाहिए और उस ज्ञान से कुछ समझा है तभी तो कोई निषेध कर सकेगा । तो आत्मा के अभिन्न गुण ज्ञान का उपयोग करके भी नास्तिक उसके आधार को नहीं मानता परन्तु उपयोग तो उसका किया ही । इसी तरह सभी दार्शनिक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का माध्यम लेकर ही ज्ञान में आ सके । वस्तुविज्ञान का अन्य कुछ उपाय ही नहीं है । चाहे, इस चतुष्टय के रूप से वे आलम्बन लेना नहीं समझें मगर जितना भी ज्ञानविकास है उसका आधार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के रूप से परिचय होना है । हम इन्द्रिय से जो कुछ भी भौतिक पदार्थ जानते हैं सो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की विधि से ही जानते हैं । उसका पिण्डरूप समझा, उसका आकार समझा, उसकी परिणति समझी और उसका भाव गुण अथवा परिणतियों के अर्न्तगत डिग्रियों को समझा । तो ये चार प्रकार के समझ हमको बराबर चल रहें हैं तब हम किसी पदार्थ कों जान पाते हैं । समझ तो समझ ही है । सभी जीव इस ही पद्धति से समझा करते हैं ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके आधार में वैषम्य होने पर ज्ञान की अयर्थाथता- स्वचतुष्टय के आधार से निष्पन्न हो सकने वाले सिद्धान्त की रचना में दार्शनिक विद्वान उतरे हैं और जब कभी वहां कुछ भी गलत बात भई है तो वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में से किसी को छोड़ने के कारण हुई है । जैसे क्षणिकवादियों ने क्षण-क्षण में नवीन नवीन आत्मा माना है । उनके मंतव्य में आत्मा कालमात्र की मुख्यता से है । पिण्ड दृष्टि को छोड़ा, आकार को भी छोड़ा, परमार्थ भावदृष्टि को भी छोड़ा, काल दृष्टि की मुख्यता कर ली । एक समय में जो कुछ है बस वही पूरा पदार्थ है । अगले समय में जो कुछ है वह पूरा नया पदार्थ है । इस तरह कालदृष्टि की मुख्यता करके क्षणिकवाद बना । तो जैसे कालदृष्टि की प्रधानता में अन्य दृष्टियों की चर्चा भी न करके क्षणिकवाद बना तो ऐसे ही कालदृष्टि को न मान करके भावदृष्टि, द्रव्यदृष्टि, क्षेत्रदृष्टि की प्रधानता करके जो आत्मा के सम्बन्ध में जाना गया, अथवा समस्त विश्व के सम्बन्ध में जाना गया वह ब्रह्मवाद एक कालदृष्टि को छोड़ देने का परिणाम है । कोई भी दार्शनिक यदि चार दृष्टियों में से किसी को छोड़े नहीं और वर्णन करने लगे तो ज्ञान तो ज्ञान ही है, वह सब वर्णन यथार्थ होगा ।

ज्ञान की विशुद्ध दिशा की प्राप्ति का प्रताप- भैया ! ज्ञान की एक विशुद्ध दिशा मिलने भर की देर है । जिसने ज्ञान का संचय किया है, विद्वत्ता प्राप्त की है, उसको सब कुछ सर्वदृष्टि से परख लेने में विलम्ब नहीं लगता । जिसका घोड़ा कुमार्ग में जा रहा है और है भी ऊधमी बिगड़ा उद्दण्ड घोड़ा, तो भले ही कुमार्गग में जा रहा है लेकिन सवार तनिक भी बल सम्हाले तो उसे सुमार्ग में चला तो सकता है, लेकिन बच्चों का घोड़ा, जो एक लाठी ले लिया और दोनों टांगों के बीच में डाल लिया और टिक-टिक करने लगे, तो जिसमें गमन की शक्ति ही नहीं है उसे क्या कुमार्ग से बचाकर सुमार्ग में लाया जा सकेगा ? भले ही एकान्त दृष्टि करके दार्शनिकों का ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के संतुलन बिना कुछ एकान्तरूप बनवाया हो, किन्तु जैसे ही कुञ्जी मिलेगी, स्वचतुष्टय का आधार जच जायगा वही सारा ज्ञान उसका सम्यक बन जायगा । जैसे कोई कंजूस धनिक है तो उसका धन किसी काम नहीं आ रहा, किसी के उपकार में नहीं लग रहा, पर धन तो है, किसी दिन बुद्धि स्वच्छ हो जायगी, धन की असारता विदित हो जायगी तो वह उपकार में भी लगा सकेगा, जिसके पास कुछ भी नहीं है वह क्या करेगा ? एक प्रासंगिक कोण में दृष्टान्त लेना है । जिसका ज्ञान विशाल है पर उसका सही उपयोग नहीं बन रहा, एकान्त मिथ्यारूप बन रहा, सो वर्तमान में उसका उपयोग नहीं बन रहा, ठीक है, परन्तु किसी क्षण उसको सत्य प्रकाश जगे तो वह सब ज्ञान सही उपयोग में आ जायगा ।

ज्ञान की यर्थाथ पद्धति उपलब्ध होने पर संचित ज्ञान में समीचनता की ख्याति- कितने ही विद्वान ऐसे इतिहास में हुए हैं कि अपने किसी कौलिक दृष्टिकोण से ही उन्होंने अपने को नापा और वे सही मार्ग में न चल सके, किन्तु कुछ कारण पाकर जैसे ही उनका ज्ञान निर्मल हुआ कि सही

दिशा में आ गये । एक पात्र केसरी थे, जिनका दूसरा नाम विद्यानंदी था, जो अबसे सैकड़ों वर्ष पहिले हो गए हैं, उनका उदाहरण एक बहुत जागृत उदाहरण है । वे बड़े उद्‌भट विद्वान थे, वेद वेदान्त के अनेक शास्त्रों के विद्वान थे, पर वे एक पक्ष वाले थे । अपने कुल से जिन बातों को सीखा उसकी ही हठ रखते थे, इसके परिणाम स्वरूप जैन धर्म से अधिक विद्वेष था । वे रोज दरबार को जाते थे । बीच में एक जैन मंदिर पड़ता था तो उसकी ओर पीठ करके तिरछे चला करते थे । बहुत समय बाद एकदम ही चित्त में यह आया कि जिससे हम पीठ फेर कर चला करते हैं देखें तो सही कि क्या है वहां । देख तो लें, देखने में क्या बुरा है, मानें चाहे न मानें, वहां अपना सर झुकायें या न झुकायें यह तो अपने हाथ की बात है । तो मंदिर में गए । वहां क्या देखा कि एक मुनिराज आप्तमीमांसा स्तोत्र पढ़ रहे थे। ज्ञान पूरा तो था ही । सो वह स्तोत्र उन्हें बड़ा भला लगा और उसमें उन्हें कुछ सत्य का दर्शन भी होने लगा । तो मुनिराज से कहा कि महाराज इसका अर्थ बता दीजिए । तो मुनि बोले कि मैं विशेष विद्वान नहीं हूं, मैं इसका अर्थ नहीं कह सकूंगा, मैं तो साधारण हूं । एक आत्मसाधना के लिए मैं इस त्यागमार्ग में उतर आया हूं । अब कुछ गुरु की ओर से भी शल्य निकली, गुरुश्रद्धा बढ़ी, अहो कैसे साधक सरल साधु महाराज हैं । तो बोले- महाराज एक बार पाठ मात्र सुना दीजिए । मुनिराज ने पुनः पाठ पढ़ा और वे बड़े चाव से आदेय बुद्धि से सुनते रहे । सुनते ही उनका सब ज्ञान समीचीन बन गया। एक स्याद्वाद शैली की कुञ्जी भर मिली, वह आप्तमीमांसा स्तोत्र ही ऐसा है कि जहां स्याद्वाद कुञ्जी का प्रत्येक घटना में प्रयोग किया गया है । बस क्या था ? रात्रि व्यतीत हुई। दूसरे दिन सभा में पहुंचे तो और दिन तो दूसरे ढंग का व्याख्यान किया करते थे पर उस दिन बहुत ही ओज भरा स्याद्वाद शैली से चला हुआ व्याख्यान था । स्याद्वाद शैली की झलक आप परख सकते हैं । शब्द मात्र से जाना जाता है कि यह व्याख्यान, यह प्रवचन, यह कथन स्याद्वाद शैली के अर्न्तगत है और यह स्याद्वाद शैली के अर्न्तगत नहीं है । बोल सुनते ही समझ जायेंगे और किसी के भाषण की रफ्तार, ढंग, विधि ही आरोहण अवरोहण मात्र सुनकर समझ जायेंगे कि यह स्याद्वाद शैली का वचन है । तो वह आप्तमीमांसा स्तोत्र स्याद्वाद शैली से भरपूर था । जब स्याद्वाद शैली से व्याख्यान होने लगा तो लोग आश्चर्यभरी दृष्टि से देखने लगे और सभी लोग सोचने लगे ओह ! आज इनको क्या हो गया जो इस तरह से बोल रहे हैं । तो पात्र केसरी महाराज ने स्पष्ट कहा कि सत्य यही है और किसी को इस विषय में हमसे बात करना हो तो कर लो । आखिर वे पात्र केसरी महाराज फिर गृहस्थी मे न रहे, चल दिये जंगल, साधु हुए और साथ ही ५०० उनके शिष्य थे, वे भी निर्ग्रन्थ साधु हो गए । तो जब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इस चतुष्टय का आधार लेना समझ में आ जाता है तब उसका ज्ञान बहुत विधि से और सही ढंग से ठीक रूप में हो जाता है ।

पदार्थ की स्वचतुष्टयमूलता-यह चित्स्वरूप स्वचतुष्टय का मूल है, स्वचतुष्टय से परिचय किया तो उसका यह विषय ही आधार है । यह सहज चित्स्वरूप अभिन्न गुण है, इसको समझने के लिए शक्तिभेद किया जाता है, लेकिन वह केवल समझने के लिए भेद है । वहां यथार्थतया भेद नहीं है, अभिन्न गुणवाला है । एक समझ में भेद आना और एक वस्तुगत भेद होना इन दोनों में तो बड़ा अन्तर है । जिन लोगों ने समझा कि भेद के आधार पर वस्तु में भेद किया वे ही विशेषवादी कहने लगे और स्वरूप का, लक्षण का भेद देखकर स्वतन्त्र- स्वतन्त्र पदार्थ मान लिए गए । परिणाम यह निकलता है कि पदार्थों के प्रकार और संख्या बनाने में ऐसी अटपट वृत्ति बनी कि कुछ पदार्थ छूट जायें, कुछ पदार्थ हैं ही नहीं और ग्रहण में आ जायें, उस विशेषवाद में यह बात है कि द्रव्य स्वतन्त्र पदार्थ है, गुण स्वतन्त्र पदार्थ है, कर्म परिणति, क्रिया, पर्याय स्वतन्त्र पदार्थ हैं, और ऐसे बिखरे हैं कि और की तो बात जाने दो, वे पदार्थ सत् भी होते हैं तो सत्ता के सम्बन्ध से होते हैं । याने स्वयं उनमें सत्ता भी नहीं है । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये ९ तो द्रव्य हैं । इन ९ के ९ में ही सत्ता का सम्बन्ध बना है तब ये सत् कहलाते हैं । तो समझो कि कुछ भी भेद के कारण सर्वथा भेद मान लेने की बात को ही विशेषवाद कहते हैं । पृथ्वी है देखो, पृथ्वी में अस्तित्व भी पाया जाता । लो इतनी ही बात कहने में अस्तित्व जुदा पृथ्वी जुदा । अस्तित्व का स्वरूप और है, पृथ्वी का स्वरूप और है । तो कहने-कहने के भेद के आधार पर एकदम भिन्न पदार्थ मान लेने की बात विशेषवाद में आयी । पदार्थ में परिणमन भी होता है, पदार्थ में अवस्था भी पायी जाती है । लो इतने कथन का भेद बना कि पर्याय जुदा पदार्थ हो गया और द्रव्य जुदा पदार्थ हो गया । अब कभी यह प्रश्न हो बैठे की पर्याय बिना द्रव्य कैसा और द्रव्य बिना पर्याय का क्या स्वरूप ? तो उत्तर यह मिलता है कि ये कभी अलग नहीं हुए न होंगे, मगर हैं भिन्न-भिन्न चीज और इनका समवाय समबन्ध है । लो गुण को, द्रव्य को तादात्म्य ढंग से भी माना जा रहा है और तादात्म्य माना नहीं है तो समझ में कुछ भेद आने से उनमें अत्यन्त भेद कर डालना यह है विशेषवाद की पद्धति । तो समझ में ही तो भेद है, पर वस्तु में तो भेद नहीं बन गया । इस बात को दृष्टि में रखे और समझ में कुछ भी भेद जचे तो उन्हें बिल्कुल भिन्न–भिन्न घोषित कर दें, यह विशेषवाद की पद्धति है और इस पद्धति में वैशेषिकजन गुण को जुदा मानते हैं, द्रव्य को जुदा मानते हैं । गुण भी पदार्थ हैं, द्रव्य भी पदार्थ है, किन्तु वास्तविकता यह है कि पदार्थ, द्रव्य वाच्य सद्‌भूत जो कुछ भी है वह है, अखण्ड है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । गुण, क्रिया, परिणति, पर्याय ये सब उस ही एक वस्तु की खासियत को बतलाते हैं ।

अखण्ड वस्तु में प्रतिबोध के लिए गुणत्व अर्थात् भेद- आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति आदिक अनन्त गुण हैं, तो ये अनन्त गुण क्या आत्मा से भिन्न हैं ? क्या ये गुण आत्मा में भरे गए जिससे यह आत्मा गुणवान कहलाया ? नहीं । चीज ही कुछ अलग-अलग नहीं है । आत्मा है पदार्थ । वह जो है सो है, एक झलक में जान लिया । अब किसी को समझाना है तो क्या कहकर समझाया जाय । भेद ही तो किया जा सकेगा समझाने के लिए, तब समझा जायगा । जैसे कोई कहे कि आम का हरा रूप है तो क्या ऐसी बात रखी कि आम अलग है हरा रंग अलग है ? और फिर हरे रूप का आम से सम्बन्ध जुटाया गया तब यह आम हरा कहलाया ? आम अपने आप प्रदेश में, अपने ही परिणमन से हरे रूप में है । रूप जो शक्ति है वह तो परिणमन नहीं, पर हरा, काला, नीला आदिक जो व्यक्त रूप हैं वे सब परिणमन कहलाते हैं । तो वस्तु अखण्ड है और ६ जातियों में विभक्त है । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । जबकि विशेषवाद ने भी पदार्थ ६ बतलाये हैं पर कहते यों हैं कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय । समझ की भिन्नता से और समझ से बहुत अधिक बाहर जाने की अशक्यता से कैसे व्यवस्था बनायी कि द्रव्य, गुण, कर्म इनमें तो सत्ता का सम्बन्ध होता है तब ये सत् कहलाते हैं । लेकिन सामान्य विशेष समवाय इनमें सत्ता का सम्बन्ध नहीं होता । ये स्वयं सत् स्वरूप हैं । अब परख लीजिए कि क्या व्यवस्था रही । द्रव्य, गुण, कर्म में यह सत् है इस रूप से व्यवहार चलता है, पर सामान्य, विशेष, समवाय ये कोई पिण्डात्मक नहीं है, एक भावमात्र है अथवा एक कल्पनारूप में है, ऐसी प्रतीति सी होती है तो उसमें सत्ता का सम्बन्ध नहीं बताया । वह स्वयं है जो है सो तो अब समझ लीजिये कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इस चतुष्टय का सही आधार न रखने से क्या परिस्थिति बन जाती है ?

आत्मा की अभिन्नगुणता- यह सहज चैतन्यस्वरूप अपने चतुष्टय का मूल आधार है, इसमें ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परिचय है, अथवा कहो कि स्वचतुष्टय ही मूल जिसका है ऐसा यह चित्स्वरूप है तथा अभिन्न गुण वाला है । आत्मा है और उसकी खासियत बताने चले तो जो बताया उसका नाम गुण है । सो सर्वगुण आधारभूत आत्मतत्त्व से अभिन्न रहता है । मैं ज्ञानमय हूं । मुझमें ज्ञान है, यह केवल समझने के लिए कहा जा रहा है । यह मैं कोई अलग चीज होऊं, ज्ञान अलग चीज हो और मुझमें ज्ञान फिर बसाया जाय यह बात नहीं है । यह ज्ञानस्वरूप को ही लिए हुए आत्मतत्त्व अनादि अनन्त है, ऐसा शुद्ध सहज चित्स्वरूप मैं आत्मतत्त्व हूं । मतलब यह है कि मैं अपना आत्मतत्त्व जो निरूपण कर रहा हूं, निरूपण कहते हैं भली प्रकार से देखने को, निरिक्षण कर रहा हूं, वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भवात्मक है और मेरी ज्ञान, दर्शन, चारित्र, श्रद्धान, आनन्द, अमूर्तत्व आदिक ये सब शक्तियां, ये सब गुण इस आत्मा

से अभिन्न हैं अर्थात् आत्मा ही उस उस प्रकार का है जिस कारण से हम उन प्रकारों को गुण के कथन के रूप से समझते हैं । ऐसा यह मैं आत्मा स्वचतुष्टय स्वरूप हूं और अभिन्न गुण वाला हूं ।

आत्मतत्त्व की सहजज्ञानस्वरूपता- यह चैतन्यस्वरूप ज्ञान दर्शन आनन्द एवं शक्तिमय है, इसका परिणमन जाननरूप हो रहा है । सो सबको विदित ही है । यह आत्मा स्व और पर को जानता है । पर को जान रहा है यह तो लोगों की दृष्टि में बड़ी दृढ़ता से समझ में आ रहा है, किन्तु पर का जानना स्व के जानने के बिना बन ही नहीं सकता । चाहे अज्ञानी जीव हो चाहे ज्ञानी जीव हो पर पदार्थ का जानना स्व के जानन बगैर हो ही नहीं सकता । अज्ञानी जीव भी स्व और पर दोनों को जानता है ज्ञानी जीव भी स्व और पर दोनों को जानता है, किन्तु अन्तर यह हो जाता है कि अज्ञानी स्व को जानता हुआ अपने ज्ञान में विश्वास में यह नहीं ला पाता कि मैने स्व को जाना । ज्ञानी जीव स्व को जानकर स्व को स्वरूप से अनुभव कर लेता है और जान लेता है । जैसे दर्पण में हाथ का प्रतिबिम्ब पड़ा तो स्वच्छता होने से ही पड़ा । तो वह दर्पण स्वच्छता का भी परिणमन कर रहा और प्रतिबिम्ब का भी परिणमन कर रहा । स्वच्छता की बात हुए बिना प्रतिबिम्ब आ ही नहीं सकता, लेकिन दर्पण अचेतन है वह अपनी स्वच्छता को स्वच्छतारूप से अनुभव नहीं कर सकता । अज्ञानी के भी जो बाह्य पदार्थों का आकार ज्ञान में आ रहा है सो वह आकार ग्रहण अपने आपके प्रतिभास बिना नहीं हो सकता । लेकिन अपने आपके इस परिचय में यह अज्ञानी अचेतन है, जड़ बन गया है इसलिये वह अनुभव नहीं कर सकता कि मैं अपने आपको जानता हूं । तो जानना जीव का परिणमन है और यह परिणमन जानने की शक्ति को सिद्ध करता है । जैसे कोई पुरुष एक मन बोझ उठाता है तो उसे देखकर उसकी शक्ति का हम अनुमान करते हैं कि इसमें इतनी शक्ति है । तो जो व्यक्त दशा होती है उससे शक्ति का अनुमान किया जाता है, ऐसे ही आत्मा में जो जानने की व्यक्त दशा हो रही है उससे ज्ञान शक्ति का अनुमान किया जाता है । इसमें सहज ज्ञान शक्ति है । दृष्टान्त में जो पुरुष शक्ति और भारवहन को बताया गया है उसमें तो इतना अन्तर है कि शक्ति निमित्त हुई और भारवहन का काम किया । किन्तु दार्ष्टान्व में शक्ति का ही परिणमन है व्यक्तरूप जानना । शक्ति का निमित्त हो और जानना अलग चीज हो ऐसा आत्मा में नहीं है । जो ज्ञान शक्ति है आत्मा में उस ज्ञान का शक्ति का ही व्यक्त परिणमन यह नाना विधि जानकारी में आ रहा है । यह आत्मा सहज ज्ञानस्वरूप है ।

ज्ञानी के सर्वत्र ज्ञायकस्वरूप के दर्शन की पात्रता- हम आप सब संसारी जीवों का भी वैसा ही स्वरूप है जैसा कि परमात्मा में सहज ज्ञानस्वरूप पाया जा रहा है । सहज ज्ञानस्वरूप का उपादान कारण करके व्यक्त हुआ जो शुद्ध केवल ज्ञानरूप परिणमन है वह सुगमतया ज्ञानशक्ति का परिचय कराने का कारण बना । यहां मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदिकरूप परिणमन भी सहज ज्ञानशक्ति के परिचय का कारण बनता है, पर पर्याय स्वभाव के अनुरूप न होने से स्वभाव के परिचय में कुछ कठिनाई आती है । किन्तु दृढ़ अभ्यासी ज्ञानी संत को उसमें कोई कठिनाई नहीं है । जैसे परमात्मा के स्वरूप को निरखकर परमात्मा के सहज स्वरूप का परिचय कर लेता है ज्ञानी, ऐसे ही निगोद पशु पक्षी आदिक अनेक जीव दशा को निरखकर भी आत्मा के सहज स्वरूप का परिचय कर लेता है ज्ञानी । मैं सहज ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा कहने में जो हमारी ये जानकारियां हो रही हैं, भींट, पत्थर, लकड़ी आदिक का जो जानन चल रहा है उस जानन की बात नहीं कह जा रही है । यह जानन परिणमन मैं नहीं हूं, क्योंकि इतना ही यही मेरा स्वरूप नहीं है, किन्तु सब प्रकार की जानकारियां जिस स्वभाव को उपादानकारण रूप से कारण बनाकर प्रकट हुआ करती हैं उस शुद्ध उपादान कारण की बात कही जा रही है कि मैं सहज ज्ञानस्वरूप हूं ।

आत्मतत्त्व की दर्शनस्वरूपता- यह चित्स्वरूप दर्शन स्वरूप है । दर्शन गुण सामान्यप्रतिभास की शक्ति को कहते हैं । सामान्य प्रतिभास जहां नहीं है वहां विशेष प्रतिभास नहीं हो सकता । जिस वस्तु में निजी स्वच्छता नहीं है उस वस्तु में बाह्य पदार्थ का प्रतिबिम्ब भी नहीं पड़ सकता । तो बाह्य प्रतिबिम्ब पड़ना यह है विशेष प्रतिभास की बात और जिस माध्यम पर, जिस आधार पर विशेष प्रतिभास बन सका वह है सामान्य प्रतिभास । हम आप लोगों को सामान्य प्रतिभासपूर्वक विशेष प्रतिभास होता है । अथवा यों कहो कि दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है, किन्तु जो अनन्त शक्तिमय है ऐसे परमात्मा को एक साथ ही दर्शन और ज्ञान हुआ करता है । एक दृष्टि से देखा जाय तो दर्शन कारण है ज्ञान कार्य है ।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानवत् दर्शन ज्ञान में भी कारणकार्यत्व का एक दृष्टि में दर्शन- सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान में तो स्पष्ट जानते हैं लोग कि सम्यग्दर्शन कारण है और ज्ञान कार्य है । यद्यपि ये दो गुण निराले हैं । सम्यग्ज्ञान ज्ञान गुण का परिणमन है । सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण का परिणमन है फिर भी इसमें कारण कार्य का विधान माना गया है और कारण कार्य हाने पर भी यहां सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान दोनों एक साथ हैं । कारण कार्य कहीं पहिले कारण होता है बाद के समय में कार्य होता है और कुछ कारण कार्य ऐसे हैं कि उनमें पूर्वापर समय की बात नहीं, किन्तु एक

साथ ही कारण और कार्य हुए हैं । जैसे दीपक, दीपक का उजाला और प्रकाश का होना ये दोनों एक साथ हुए, दीपक कारण है प्रकाश कार्य है, वहां कोई यह कल्पना न हो सकेगी कि प्रकाश कारण है और दीपक कार्य है । एक साथ होने पर भी दीपक कारण है प्रकाश कार्य है, ऐसे ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एक साथ होने पर भी सम्यग्दर्शन कारण है सम्यग्ज्ञान कार्य है ।

ज्ञानविलास की दर्शनविलासकारणकता- अब दर्शन और ज्ञान गुण पर आइये । यद्यपि दोनों गुण के ये दोनों परिणमन स्वतंत्र हैं । एक दूसरे का स्वरूप लिए हुए नहीं है और ऐसी बात तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भी है । दोनों का स्वरूप निराला है और गुण भी दोनों के न्यारे हैं फिर भी हो तो गए एक साथ । तो यहां भी दर्शन गुण दर्शनगुण का परिणमन ज्ञान गुण ज्ञानगुण का परिणमन ये दोनों भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले हैं लेकिन बुद्धि गवाह देती है कि जब दर्शन होता है, सामान्य प्रतिभास होता है तो एक कारणरूप करके विशेष प्रतिभास की बात उत्पन्न होती है । यहां यह कल्पना नहीं कर सकते कि विशेष प्रतिभास कारण है सामान्य प्रतिभास कार्य है, ऐसा स्वयं का अनुभव गवाह नहीं देता । तो अब देखिये छद्मस्थ जीवों के दर्शन पहिले होता है ज्ञान बाद में होता है तो अल्पज्ञ पुरुषों का ज्ञान दर्शनकारणक हुआ । वह दर्शन क्या है ? एक सामान्य प्रतिभास । एक पदार्थ का ज्ञान छोड़कर दूसरे पदार्थ का ज्ञान करने चले तो पहिले का ज्ञान तो अब रहा नहीं, अब नया ज्ञान उत्पन्न किया जायगा तो नया ज्ञान उत्पन्न होने के लिए आत्मा में सामान्य प्रतिभास हुआ। और उस सामान्य प्रतिभास का बल कारण करके विशेष प्रतिभास हुआ, किन्तु परमात्मा में सामान्य प्रतिभास और विशेष प्रतिभास दोनों एक साथ हैं वहां भी दीपक और प्रकाश की भांति सामान्य प्रतिभास कारण होकर विशेष प्रतिभास निरन्तर परिणमता रहता है। यह सब गुणों का पारस्परिक सहयोग है ।

ज्ञान और आनन्दवत् दर्शन ज्ञानमें कारणत्व व कार्यत्व का एक दृष्टि में दर्शन- स्वरूप न्यारा होकर भी किसी गुण के अन्य गुण में कारणरूपता बन जाती है । जैसे ज्ञान और आनन्द गुण दोनों निराले हैं, उनका अपना-अपना स्वरूप जुदा-जुदा है । ज्ञान का काम जानन है, आनन्द का काम आल्हाद है, लेकिन वहां कारण कार्य विधान ढूंढा जायगा तो यह समझ में आयगा कि ज्ञान परिणमन तो कारण है और आनन्द परिणमन कार्य है । ज्ञान स्वच्छ हुआ अतएव आनन्द जगा, आनन्द जगा तो विशेषतया इसलिए ज्ञान बढ़ा, ज्ञान बना। यद्यपि ऐसा भी होता है कि ज्यों-ज्यों आत्मा का विशुद्ध आनन्द वृद्धिंगत होता है, ज्ञानावरण का विनाश होता है और ज्ञान वृद्धिंगत होता है, फिर भी तात्कालिक कारण कार्य सम्बंध को निरखते हुए यही कहा जायगा कि ज्ञान परिणमन कारण है और आनन्द परिणमन कार्य है । दोनों एक साथ हो रहे हैं दीपक और

प्रकाश की भांति फिर भी बुद्धि और अनुभव ऐसा समझने को विवश करता है कि ज्ञान कारण है और आनन्द कार्य है । और, इन सब परिणमनों के लिए आत्मा की शक्ति मुख्य आधारभूत है । तो सबका मूल शक्ति है और उसके विकास में ये सब परिणमन हुए हैं । तो यह चित्स्वरूप ज्ञान दर्शन शक्ति और आनन्दमय स्वरूप वाला है ।

चित्स्वरूप की अचलता- यहचित्स्वरूप अचल है । समस्त पदार्थों का स्वरूप अचल हुआ करता है । पदार्थ का अस्तित्व भी स्वरूप पर निर्भर है अथवा स्वरूप है, इसलिए स्वरूप के चलायमान होने की तो कदाचित् भी आशंका नहीं है । चेतन चैतन्यस्वभावमय ही होता है अथवा स्वभावमात्रहोता है । पदार्थ का जो सहज भवन है तन्मात्र ही वह पदार्थ है । मेरा जो सहज भवन है तन्मात्र ही मैं हूं । तो चैतन्यस्वभावमात्र हुआ । जब पदार्थ स्वभावमात्र है मैं आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र हूं तो न मेरा अस्तित्त्व कभी मिटता है और न कभी स्वभाव में चलितपना आता है । मेरा स्वरूप अचल है मैं अचल हूं । जिस रूप से हूं, उस रूप से कभी मैं चलायमान नहीं होता । यद्यपि ये चेतन निगोद पेड़ पौधे आदिक हीन हीन दशाओं में भी गए और जहां इतना आवरण बढ़ा कि मुश्किल से यह समझ में आ पाता है कि इन निगोद पेड़ आदिक में भी ज्ञान विलास बना हुआ है, तो सर्वदशाओं में आत्मा का ज्ञान विकास बना रहना ज्ञान बना रहना, भीतर में ज्ञान शक्ति बनी रहना, यह बराबर अनादि अनन्त शाश्वत भावरूप है । तो जो मेरा स्वभाव है, चैतन्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है वह अचल है, तभी हम मुक्तिपथ में लग सकते हैं । अन्यथा हम तो मुक्तिपथ में लगें और स्वरूप हो गया हो पहिले से चलायमान तो अब किसकी मुक्ति कराना है ? मेरा चैतन्यस्वरूप तो रहा नहीं, अब उद्यम किस चीज का । अत: सिद्ध है कि किसी भी पदार्थ का स्वरूप कभी भी चलित नहीं होता । पदार्थ अचल है, स्वरूप अचल है यह चैतन्यस्वरूप भी अचल है ।

आत्मतत्त्व की शिवरूपता- यह आत्मा शिवस्वरूप है, सुख का देने वाला है । ऐसा शिवस्वरूप शंकरस्वरूप अन्तस्तत्त्व दृष्टि में आये तो वहां व्यक्त शिवमयता है । शिव कहते हैं कल्याण को । कल्याणस्वरूप है यह चैतन्यस्वभाव । इसमें समस्त आनन्द ही आनन्द भरे पड़े हैं । जीवों ने व्यर्थ ही पर पदार्थों में ममता बुद्धि की इस कारण दुख भोगना पड़ा । पर इनका कुछ है ही नहीं । ऐसा न समझकर ये जीव पर को अपनाते हैं और दु:खी होते हैं । दु:खी होने का कारण परदृष्टि है । हम आप सब एक ही किस्म के उपायों से दु:खी हो रहे हैं और एक ही किस्म के उपाय से ये सब दु:ख मिटेंगे । दु:ख हो रहा है परदृष्टि से । धनी हो उसे भी जो दु:ख है वह परदृष्टि से है । कोई गरीब है कुछ भी साधन नहीं है उसके पास फिर भी वह दु:खी जो हो रहा है सो परदृष्टि से । परपदार्थों को अपनाने के भाव से पर से सुख होता है इस प्रकार के विकल्प के कारण पर का संग्रह बनाने के लिए जो वितर्क विचार उठते हैं वे ही दु:ख के कारण हैं ।

बड़ा कठिन पड़ रहा है पर का संकोच छोड़ना, पर की लाज छोड़ना, पर का लगाव छोड़ना । है यद्यपि यह कठिन, किन्तु जिसका होनहार पवित्र है उसके लिए यह बात बड़ी सुगम लग रही है ।

आत्माओं में समानता- मोही जन इस प्रसंग को सुनकर कल्पना यह कर सकेंगे कि लो यह तो आ गया अपने स्वरूप में, अपने उपयोग में लेकिन इसके घर वालों का कैसे गुजारा चलेगा और लोगों के द्वारा वाहवाही प्राप्त करने का इसको अब क्या आराम मिल रहा है । किन्तु यह विवेक न बनावेंगे कि वाहवाही, पर का प्रसंग, पर की दृष्टि, पर का संचय संग्रह अनुग्रह ये सब इस पर आपत्तियां हैं । कोई शान्ति की बात नहीं है । जैसे लोग कहते हैं कि कोई गरीब हो तो क्या, धनी हो तो क्या गरीब से धनी ने अपने में विशेषता ला ही क्या दी? कोई कहे कि धनिक तो लोक में यश पा रहा है, मौज ले रहा है, गरीब को यश का, मौज का मौका नहीं मिल पाता । वह धनिक अपने आप में ही अपने मद से मस्त होकर विकल्प बनाता है, लोगों से उसे क्या मिलता है ? लोग अपना विकल्प बनाते हैं, ऐसे ही गरीबों को लोगों से क्या मिलता है ? जैसे कह देते हैं कोई कि गरीब घर में लड़की ब्याही हो या धनिक के घर ब्याही हो, धनिक घर में विशेषता क्या आ जायगी ? गरीब भी अपनी उदरपूर्ति करता है और धनिक भी अपनी उदरपूर्ति करता है । ज्यादह से ज्यादह इतनी बात होने लगेगी उस धनिक घराने की लड़की में कि लम्बी एड़ी की चप्पल पहिन ले और हाथ में बटुवा ले ले, इससे अधिक और क्या कर लेगी । और गरीब घराने की लड़की यह नहीं कर पाती । वह अपने में प्रसन्न है, अपने सद्व्यवहार से दूसरे के प्रेम से, अपने सदाचार से धर्म में अनुराग होने से मोक्ष के पथ का ज्ञान होने से वह आत्मा तो यही चाहता है कि इनसे भी और कम संग रहे, कम मिलन रहे और इकलापन बने, और इस भाव में वह गरीब बहुत कुछ लाभ लूट रहा है, जबकि धनी इस प्रभु सेवा से वंचित रह जाता है ।

सबके दु:ख व दु:खशमन की मूल में एक पद्धति- देखिये भैया ! चूंकि आश्रय है ना पर पदार्थों का तो वहां अपने आप की सुध नहीं हो पाती । बिरले ही धनिक ऐसे होते हैं जो धन का लगाव नहीं रखते, धन का जो हो सो हो, पर अपने परिणाम निर्मल रखते हैं और अपने कर्तव्य में निष्ठ रहते हैं । तो क्या फर्क पड़ा यहाँ बाहरी बातों से ? वास्तविक फर्क तो भीतरी भाव का है । परदृष्टि और स्वदृष्टि का अन्तर वास्तविक अन्तर है । जैसे बिरादरी की पंगत में गरीब अमीर का भेद नहीं रहता, सबको सभी भोजन सामाग्री समानरूप से मिलती हैं ऐसे ही इस भाव जगत में परदृष्टि करने वाले अनेक जीवों में धनी हों या गरीब हों, उनमें कुछ अन्तर नहीं है । दोनों को दु:ख है वह परदृष्टि के कारण दु:ख है । परदृष्टि हटे तो शान्ति प्राप्त हो । यहां अन्तर

मिलेगा । ऐसे अपने आपके दर्शन, अनुभवन, स्पर्शन, श्रद्धान ज्ञान के प्रताप से अपने आपके उपयोग में ही प्राप्त इस चैतन्यमात्र सहज चित्स्वरूप को मैं भजता हूं ।

स्वभाव में उपयोग समा जाना ही एकमात्र अनुत्तर पुरुषार्थ:- निजअन्तस्तत्त्व को भजना क्या कि ज्ञान में यह स्वभाव एक रस होकर अर्थात् ज्ञान में यह स्वभाव पूर्ण रूप से समाया हुआ है । स्वभाव से बाहर ज्ञान नहीं, ज्ञान से बाहर स्वभाव नहीं, ऐसे स्वभाव का ज्ञान परिणमन एकरस जब होता है तब वह है उसकी असली पूजा, उपासना, सेवा । करने के लिए मात्र एक यही सारभूत काम है इस जीवन में कि मेरा ज्ञान ऐसा स्वभाव में समा जाय कि स्वभाव से बाहर ज्ञान नहीं, ज्ञान से बाहर स्वभाव नहीं, ऐसा एकरस होकर मैं अपनी स्थिति बनाऊं, परिणति बनाऊं जो कि निर्विकल्प है । उस अभेद परिणमन के द्वारा मैं इस निज सहज चैतन्यस्वरूप को प्रकृष्ट रूप से भजता हूं, सेवा में ही सच्चा स्तवन है । कोई ऊपरी स्तवन करे और सेवा न करे तो वह वास्तविक स्तवन नहीं हुआ । यही देख लो परिजनों में। कोई बाप की स्तुति तो दोनों समय करता जाय, पर उसे खाने पीने को न पूछे, उसके आराम की बात न पूछे, तो क्या वह बाप का स्तवन सच्चा स्तवन है । ऐसे ही कोई प्रभुस्वरूप का स्तवन तो कर ले पर अपने उपयोग में प्रभुस्वरूप को एकरस न करे तो उसका स्तवन परमार्थ स्तवन नहीं है । वह तो केवल एक मुख से बोलने भर की बात है । कोई दूसरा वचनों बोल से दे कि आइये जींविये और जींवने का कोई साधन ही न बनाये तो उसका यह कथन क्या अनुराग को बताने वाला है ? ऐसे ही प्रभु का स्तवन प्रभुस्वरूप में ज्ञान को एकरस बनाकर निर्विकल्प विश्राम लिया जाय तो वह है प्रभु का वास्तविक स्तवन, प्रयोगात्मक स्तवन । इस तरह मैं इस सहज चैतन्यस्वरूप अन्तस्तत्त्व को अभेद पद्धति से प्रकृष्ट रूप से भजता हूं ।

आत्म कीर्तन

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ रागवितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।

किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुख की खान ।

निज को निज पर को पर जान, फिर दुख का नहिं लेश निदान ॥३॥
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहूँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूँ अभिराम ॥५॥

आत्मकल्याण के लिये पञ्चसूत्री भावना

(१)

मै देह से निराला, अमूर्त ज्ञान मात्र हूँ ।

(२)

मैं ज्ञान को ही करता हूँ व ज्ञान को ही भोगता हूँ

(३)

ज्ञान का करना भोगना क्या ?

जानन परिणमन होता रहता है ।

(४)

परमार्थत: मैं अविकार ज्ञान स्वभाव हूँ ।

(५)

हे अविकार ज्ञान स्वभाव ! प्रसन्न होओ

और जन्म मरण का संकट दूर करो ।

(सहजानन्द डायरी से उध्दत)